स्थापित जुलाई 1988

ISSN No. 0971-796X

प्राकृतविद्या

वर्ष 34, अंक 2

अप्रैल-जून 2021 ई.

ज्ञानतीर्थ कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली का सुरम्य परिसर

परमपूज्य श्वेतपिच्छाचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज की कतिपय प्रमुख कृतियाँ

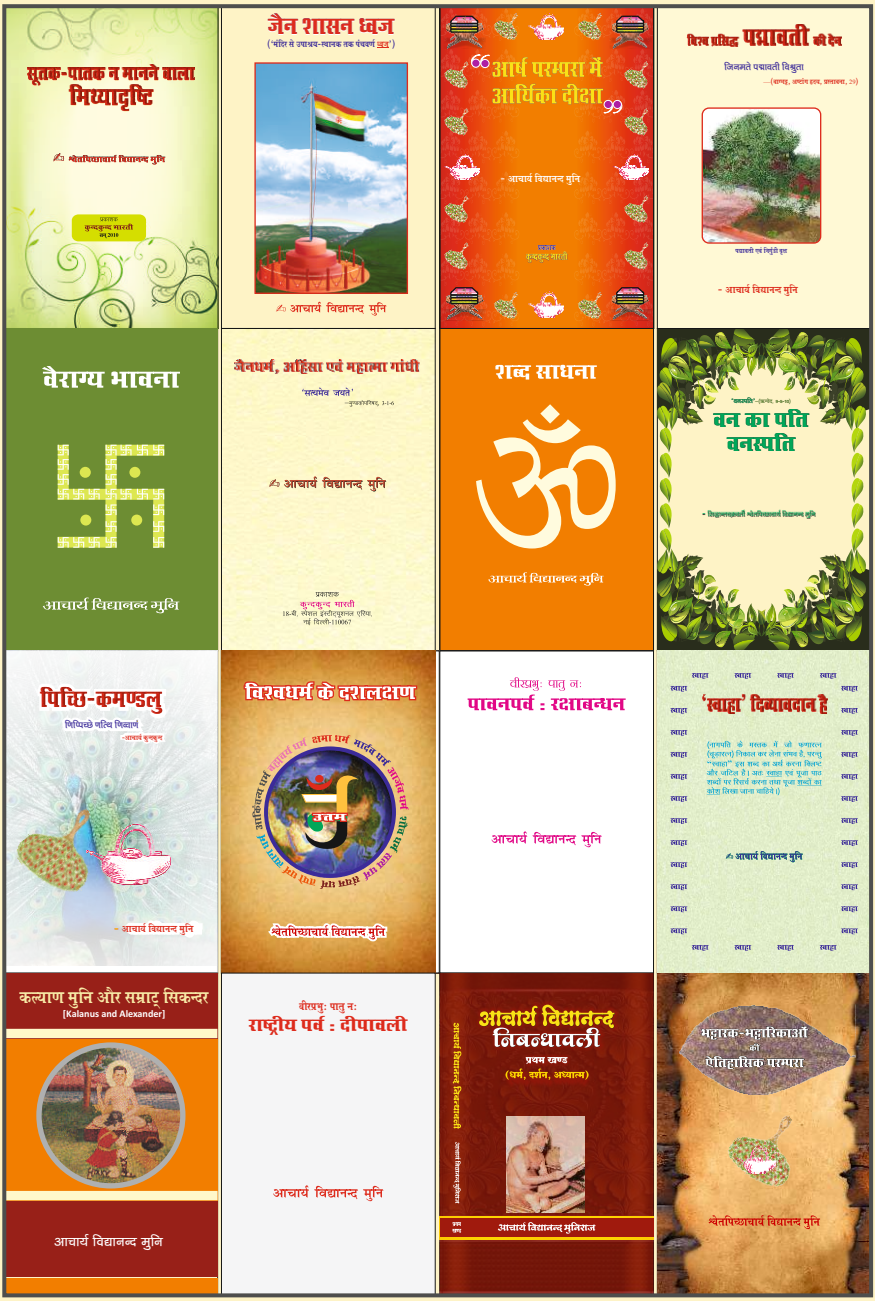

UGC Approved Research Journal

ISSN No. 0971-796 ×

प्राकृत-विद्या

पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA

Pāgada-Vijjā

प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं की हिन्दी तक की विकास-यात्रा दर्शानेवाली समर्पित त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

A quarterly journal devoted to researches on the development of Prakrit, Apabhramsha and Ancient Indian Languages upto Hindi Language

वीर निर्वाण संवत् 2547 अप्रैल-जून 2021 वर्ष 34 अंक 2

Veer Nirvan Samvat 2547 April-June 2021 Year 34 Issue 2

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2025

सम्पादक-मण्डल

श्री पुनीत जैन
(नवभारत टाइम्स)

डॉ. रमेश कुमार पाण्डेय
(श्री ला.ब.शा.रा. संस्कृत विश्वविद्यालय)

मानद सम्पादक

प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन
(श्री ला.ब..शा.रा. संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली)

प्रबन्ध सम्पादक

श्री कमलकान्त जैन

प्रकाशक
श्री अनिल कुमार जैन
महामन्त्री
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन : (011) 26564510, 46062192
ई-मेल: kundkundbharti@gmail.com

Publisher
SHRI ANIL KUMAR JAIN
Secretary
Shri Kundkund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area
New Delhi-110067
Phone: (011) 26564510, 46062192
E-mail: kundkundbharti@gmail.com

इस प्रति का मूल्य—बीस रुपया

अनुक्रम

क्र.सं.	शीर्षक	लेखक	पृ.सं.
1.	मंगलाचरण : लोगभासा पागदं	डॉ. शान्तिसागर शिरहट्टि	3
2.	सम्पादकीय : न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो?	प्रो. वीरसागर जैन	4
3.	'स्वाहा' पद का गूढार्थ	आचार्य विद्यानन्द मुनिराज	10
4.	जैन योग में सामायिक	आचार्य श्रुतसागर मुनिराज	16
5.	जैन समाज की एकता के पक्षधर आचार्य विद्यानन्द जी	डॉ. अनिल कुमार जैन	32
6.	जैन योग के बिना अधूरा है भारतीय योग	डॉ. रुचि अनेकांत जैन	35
7.	जीवन की चार व्याधियाँ एवं उपचार	डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा	38
8.	आधुनिक भाषाओं के विकास में प्राकृत का योगदान	डॉ. ज्योतिबाबू जैन	46
9.	वैयाकरणों की प्राकृत	गणेश तिवारी	54
10.	प्राकृतभाषा वर्णमाला विमर्श	डॉ. राजेन्द्र चिन्तामणी जैन	65
11.	भोजन में शुद्धता का जैनाचार	आदीश कुमार जैन	71
12.	सल्लेखना में निर्यापकाचार्य की भूमिका	रचना जैन	73
13.	जैनदर्शन की संचार दृष्टि	अंकुर जैन	78
14.	जैनशास्त्रों में मिथ्यात्व का स्वरूप	प्रताप	85
15.	तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से समयसार और तत्त्वार्थसूत्र का तुलनात्मक विवेचन	ऋषभ जैन	93
16.	मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र का ऐतिहासिक महत्त्व	दीप चन्द जैन	100
17.	प्राकृत-विद्या : विद्वानों के अभिमत		105
18.	पुस्तक समीक्षा : समयसार का वैज्ञानिक विवेचन	डॉ. दिलीप धींग	106
19.	समाचार-दर्शन		108

'प्राकृतविद्या' के सम्बन्ध में आपके सुझाव, अभिमत आदि सादर आमंत्रित हैं। 'प्राकृतविद्या' में प्रकाशनार्थ शोधपूर्ण लेखों का भी हार्दिक स्वागत है। यदि आपके पास प्राकृत भाषा एवं साहित्य के सम्बन्ध में कोई विशेष समाचार हैं तो उन्हें भी भेजने की कृपा करें। यदि आप भगवान महावीर जन्मभूमि वैशाली की यात्रा करना चाहते हैं, उसके विकास में सहयोग करना चाहते हैं अथवा अन्य कोई भी जानकारी चाहते हैं तो भी हमारे कार्यालय से सम्पर्क करें।

कमलकान्त जैन, मो : 9871138842, ईमेल : kundkundbharti@gmail.com

मंगलाचरण

लोगभासा पागदं

—डॉ. शान्तिसागर शिरहट्टि*

सरलभासा पागदं,
सरसभासा पागदं,
सरससरल तिलोयमंगल **लोगभासा** पागदं।। टेक।।
महुरभासा पागदं,
अमरभासा पागदं,
बालइत्थिहिययवियसिद **कव्वभासा** पागदं।। 1।।
सुहीभासा पागदं,
मुणीभासा पागदं,
तित्थयर उवदेसिद **दिव्वभासा** पागदं।। 2।।
सहजभासा पागदं,
धवलभासा पागदं,
सहजधवलसिरिभगवई **सत्थभासा** पागदं।। 3।।
विउलभासा पागदं,
अतुलभासा पागदं,
अतुलविउलसमिद्धबोली **मूलभासा** पागदं।। 4।।
बम्हीभासा पागदं,
लेहीभासा पागदं,
लेहीबम्ही अहिंसग **पगइभासा** पागदं।। 5।।
वेदभासा पागदं,
बुद्धभासा पागदं,
तित्थयर उवददेसिद **जइणभासा** पागदं।। 6।।
अमयभासा पागदं,
अभयभासा पागदं,
अमयअभयपदायगं **णीदिभासा पागदं**।। 7।।
सच्चभासा पागदं,
तच्चभासा पागदं,
सच्चतच्चअज्जआरस **पुव्वभासा** पागदं।। 8।।
पसुभासा पागदं,
सिसुभासा पागदं,
सिसुपसुपक्खीजीविउं **जीवभासा** पागदं।। 9।।

*जैनशास्त्र प्राकृत अध्ययन विभाग, मैसूरु विश्वविद्यालय निलय, मैसूरु, मो. 9980703104

सम्पादकीय

न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो ?

—प्रो. वीरसागर जैन

न्यायविद्या एक अद्भुत विद्या है, अमृतविद्या है। आचार्य अनन्तवीर्यस्वामी ने इसे अमृतविद्या ही कहा है। यथा–

अकलंकवचोम्भोधेरुद्बध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥

–प्रमेयरत्नमाला, मंगलाचरण, 2

अर्थ– जिन्होंने आचार्य अकलंक के वचनरूपी समुद्र को मथकर न्यायविद्यारूपी अमृत का उद्धार किया है, उन बुद्धिमान आचार्य माणिक्यनंदी को मेरा नमस्कार हो।

न्यायविद्या को प्राचीन काल में आन्वीक्षिकी, हेतुविद्या आदि अनेक नामों से जाना जाता था और यह सर्व विद्याओं की प्रकाशक मूलाधारभूत विद्या मानी जाती थी। यथा–

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

–चाणक्य, अर्थशास्त्र, विद्योद्देश्य प्रकरण, 2

प्राचीन काल में इस न्यायविद्या को आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक जीवन के दोनों पक्षों को निर्मल करनेवाली होने के कारण सभी लोग अनिवार्यतः पढ़ा करते थे, किन्तु खेद है कि वर्तमान में इसका दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। अभी कुछ वर्षों पहले तक भी न्यायविद्या का जैसा अध्ययन-अध्यापन होता था, वैसा भी अब नहीं हो रहा है। स्थिति निरन्तर गिरती ही जा रही है।

किन्तु अभी यहाँ इस विषय में अधिक चिन्ता प्रकट करने की बजाय इस विषय पर कुछ चिन्तन करते हैं कि न्यायविद्या की प्रगति कैसे हो। मैं लगभग 42 वर्ष से न्यायविद्या के अध्ययन-अध्यापन से जुड़ा हुआ हूँ और इस अवधि में

मैंने जो कुछ अनुभव इस सम्बन्ध में किये हैं, आज मैं उन्हीं के आधार पर अपने कुछ सुझाव आप सबके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे लगता है कि यदि हम इन पर ध्यान दें तो न्यायविद्या की काफी प्रगति हो सकती है। सुधी जनों से निवेदन है कि वे इन पर अवश्य चिन्तन करें और यदि इनमें कुछ संशोधन-परिवर्द्धन हो तो वह भी करें, परन्तु न्यायविद्या को क्षीण होने से बचाने में अपना कुछ-न-कुछ योगदान अवश्य करें। न्यायविद्या हमारी अनमोल विरासत है।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा सबसे **पहला** सुझाव तो यह है कि इसे व्यावहारिक बनाया जाए। बनाया क्या जाए, यह तो व्यावहारिक ही है, आवश्यकता केवल इतनी है कि इसकी व्यावहारिकता को हम गहराई से प्रकाशित करें, हाईलाइट करें, ताकि समाज और शासन आदि में भी इसकी स्वीकार्यता बढ़े। समाज और शासन में स्वीकार्यता बढ़ने से इसकी विशेष प्रगति होगी।

दरअसल, पहले तो अधिकारी/नेतागण इसकी उपादेयता को जानते थे, अतः इस पक्ष को उभारने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती थी, परन्तु अब वे लोग उसे बिलकुल नहीं समझ पा रहे हैं, अपितु अनेक लोग तो उसे अनुपयोगी या निरर्थक तक कहने लगे हैं, अतः उन्हें इस पक्ष से परिचित कराना अत्यंत आवश्यक है, ताकि उनका भी समर्थन प्राप्त हो।

उनके अतिरिक्त अन्य सबको भी, इसके विद्यार्थियों को भी न्यायविद्या की व्यावहारिकता को सशक्त रीति से समझाना चाहिए, तभी उनका मन इसमें अच्छी तरह लगेगा। न्यायविद्या से केवल पारलौकिक लाभ ही नहीं होते, अपितु व्यक्ति एवं समाज सभी का बड़ा हित होता है।

समाज में सर्वत्र अन्धविश्वास, पक्षपात, पूर्वाग्रह, संकीर्णता आदि अनेक दोष व्याप्त हैं, न्यायविद्या के अध्ययन से ये सब सहज ही दूर किये जा सकते हैं और एक सुन्दर समाज की संरचना की जा सकती है। न्यायविद्या के अध्ययन से व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा होता है और उसकी वाणी, लेखनी आदि भी अत्यंत व्यवस्थित होती है। समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं। एक कहते हैं– मेरा सो खरा और दूसरे कहते हैं कि खरा सो मेरा। पहले प्रकार के लोग समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं, क्योंकि वे कोई संविधान नहीं मानते। स्वस्थ समाज की रचना दूसरे प्रकार के लोगों से ही होती है और वे न्यायविद्या के अध्ययन से ही तैयार होते हैं। मतभेद होते हुए भी मनभेद न रखने की कला न्यायविद्या से ही अच्छी आती है, जो एक स्वस्थ एवं सुन्दर समाज की अनिवार्य शर्त है।

न्यायविद्या के अध्ययन से और भी अनेकानेक लाभ हमें हमारे व्यावहारिक/दैनिक जीवन में होते हैं, हमें उन्हें भलीभांति प्रकाशित करना चाहिए, उन पर राष्ट्रिय संगोष्ठी, व्याख्यान आदि आयोजित करना चाहिए। तथा सभी लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहिए। मैंने स्वयं भी इस विषय पर अनेक कक्षाएँ ली हैं और एक-दो लेख भी लिखे हैं, जैसे कि– 'न्यायशास्त्र के अध्ययन की दैनिक/व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता' आदि।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा **दूसरा** प्रमुख सुझाव यह है कि इसे एकदम सरल बनाया जाना चाहिए। यह वास्तव में बहुत कठिन है भी नहीं। जो लोग इसे ठीक से समझते नहीं हैं, वे ही इसे कठिन रूप में प्रस्तुत करते हैं। न्यायविद्या को सरल बनाने के लिए आधुनिक युग में तो वैसे भी अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हो गई हैं– कम्प्यूटर आदि के माध्यम से, हमें उनका भी लाभ उठाना चाहिए। मैंने देखा है कि कम्प्यूटर से पावर पॉइंट प्रेजेंटेशन आदि से समझाने पर विषय बहुत सरल और रोचक हो जाता है। किसी भी विषय के भेद-प्रभेद आदि सब बहुत आसानी से समझ में आ जाते हैं।

न्यायविद्या को सरल बनाने के लिए मेरे ख्याल से निम्नलिखित दो-तीन कार्य और भी किये जा सकते हैं। जैसे कि– प्रारम्भिक एक-दो कक्षाओं में छात्रों को सभी विविध दर्शनों का प्रारम्भिक परिचय दे देना चाहिए, क्योंकि वही न आने के कारण न्यायशास्त्र विशेष कठिन लगता है। इसी प्रकार हमें अपनी समझाने की शैली भी एकदम सरल कर देनी चाहिए, उसके दृष्टान्त आदि भी समसामयिक ही देना चाहिए। प्राचीन काल में माणिक्यनंदी, धर्मभूषण यति आदि आचार्यों ने भी अपने हिसाब से उसे अधिकतम सरल करके ही प्रस्तुत किया था, एकदम बालावबोध शैली में, जैसा कि उनके 'लघीयसः', 'बालप्रबुद्धये' आदि पदों से भी ज्ञात होता है। उन्होंने भाषा, शैली, दृष्टान्त आदि सब अपने समय के अनुरूप एकदम सरल कर दिए थे, ऐसा आग्रह नहीं रखा था कि अकलंक तो ऐसे समझाते थे, मैं सरल कैसे कर सकता हूँ।

न्यायविद्या को सरल बनाने के लिए प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लेना भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। हमें उसका भी प्रयोग करना चाहिए। जैसे कि मैंने अपनी कृति 'न्याय-मन्दिर' में किया और वह बहुत सफल भी रहा। इसी प्रकार के अन्य भी कुछ प्रयोग किये जा सकते हैं, परन्तु कैसे भी करके न्यायविद्या को सरल करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि दिन-प्रतिदिन लोगों की बुद्धि एवं शक्ति क्षीण होती जा रही है, हमें उसका अवश्य ध्यान रखना होगा।

न्यायविद्या को सरल करने के लिए एक उपाय यह भी किया जा सकता है

कि प्रथम अध्ययन के समय हम उसकी सूक्ष्म ऊहापोह में छात्रों को न उलझाएँ, केवल उसकी मूल संरचना (basic structure) को ही स्पष्ट करें। बाद में उसकी रुचि एवं क्षमता के अनुसार द्वितीय-तृतीय अध्ययन किये जा सकते हैं।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा **तीसरा** प्रमुख सुझाव यह है कि हमें इसे अध्यात्मविद्या से जोड़ना चाहिए। यद्यपि न्यायविद्या मूलतः अध्यात्मविद्या से जुड़ी हुई ही है, बहुत गहराई से जुड़ी हुई है, जैसा कि आचार्य सोमदेवसूरि ने भी 'नीतिवाक्यामृत' (5/63) में स्पष्ट शब्दों में कहा है–

'आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये।'

अर्थ– आन्वीक्षिकी अर्थात् न्यायविद्या आध्यात्मिक विषय में उपयोगी है।

परन्तु आज हम उसे भूल-से गये हैं और इसीलिए न्यायविद्या लोगों को अत्यन्त नीरस एवं अनुपयोगी भासित होने लगी है। तथा जो चीज नीरस एवं अनुपयोगी भासित होगी, उसमें किसी का कैसे मन लगेगा? अतः मैं समझता हूँ कि हमें न्यायविद्या को अध्यात्मविद्या से गहराई से जोड़ना चाहिए। मैंने इस विषय पर भी अनेक व्याख्यान किये हैं और एक-दो लेख भी लिखे हैं, जैसे कि– 'समयसार में न्यायशास्त्र के प्रयोग', 'आत्मानुभूति में न्यायशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता' आदि। मुझे विश्वास है कि यदि हम न्यायविद्या को अध्यात्मविद्या से जोड़कर प्रस्तुत करेंगे तो इसकी बहुत प्रगति होगी।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा **चौथा** प्रमुख सुझाव, जो इसी से सम्बद्ध है, यह है कि हमें न्यायविद्या की आवश्यकता और उपयोगिता पर विशद प्रकाश डालना चाहिए, उसको बारम्बार रेखांकित करना चाहिए, क्योंकि सामान्य जन तो उसे जानते ही नहीं हैं, अनेक विद्वज्जन भी नहीं जानते हैं –ऐसा मेरा अनुभव है। मैंने तो बल्कि ऐसे-ऐसे विद्वज्जन देखे हैं जो स्वयं को बड़े आध्यात्मिक समझते हैं और फिर भी इस न्यायविद्या को आत्मकल्याण में अनुपयोगी या अनावश्यक बताते रहते हैं। न केवल अनुपयोगी और अनावश्यक, बाधक तक बता देते हैं। वे न स्वयं न्यायशास्त्र पढ़ते हैं और न दूसरों को पढ़ने देते हैं। अतः हमें न्यायविद्या की आवश्यकता और उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डालना चाहिए, क्योंकि जबतक इसकी आवश्यकता और उपयोगिता समझ में नहीं आएगी, तबतक इसमें किसी का मन ठीक से नहीं लगेगा। मैंने इस विषय पर भी अनेक व्याख्यान किये हैं और एक-दो लेख भी लिखे हैं। एक लेख तो पर्याप्त विस्तार से विविध युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर यही बताने के लिए लिखा है कि न्याय के बिना तत्त्वाधिगम सम्भव ही नहीं है और तत्त्वाधिगम के बिना तत्त्वानुभव सम्भव नहीं है, अतः न्याय पढ़ना

अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में और भी अनेक बातें हैं, जो मैं 'न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता' शीर्षक लेख में कह चुका हूँ, अतः यहाँ दोहराने का मन नहीं कर रहा है, जिज्ञासु उस लेख को अवश्य पढ़ें।

न्यायविद्या की प्रगति हेतु मेरा **पाँचवाँ** सुझाव यह है कि न्यायविद्या के सम्बन्ध में एक बड़ी भ्रान्ति चलती है कि यह तो वाद-विवाद या शास्त्रार्थ की विद्या है, जो प्राचीन काल में चलती थी और जिसमें पण्डित लोग स्वमतमण्डन एवं परमतखण्डन करते थे और फिर उसके आधार पर उनकी हार-जीत का फैसला होता था, जीतनेवाले को पुरस्कार और हारनेवाले को तिरस्कार/दंड मिलता था। जीतनेवाले का बहुत सम्मान होता था और हारनेवाले का बहुत अपमान होता था। मैं समझता हूँ कि लोगों की यह भ्रान्ति अवश्य दूर होनी चाहिए, क्योंकि इस भ्रान्ति के कारण न्यायविद्या का बड़ा ह्रास हुआ है। आज किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को यह सब उचित नहीं प्रतीत होता। आज की नई पीढ़ी भी इस कार्य को बिलकुल पसंद नहीं करती है। यद्यपि मैं मानता हूँ कि प्राचीन काल में ऐसे भी दिन आये थे, किन्तु यह न्यायविद्या का मूल स्वरूप नहीं था, अपितु विकृत स्वरूप था। आचार्य अकलंकदेव भी उसे देखकर अत्यन्त विगलित हुए थे, जैसा कि 'न्यायविनिश्चय' के निम्नलिखित श्लोक से अभिव्यक्त होता है–

''बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-
र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥ 2॥''

अर्थ– अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के उदय से, अविद्या-अन्धकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लागों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे अनुकम्पा-परायण आचार्य, जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षालित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

अतः हमें इस बात को सबको भलीभांति समझाना चाहिए कि न्यायविद्या वाद-विवाद के लिए नहीं, तत्त्वज्ञान के लिए है। यह कषाय बढ़ानेवाली निम्नविद्या नहीं, अपितु कषाय मिटानेवाली अमृतविद्या है।

इस प्रकार मैंने यहाँ न्यायविद्या की प्रगति हेतु कुछ प्रमुख सुझाव प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक सुझाव हो सकते हैं, परन्तु वे सब तभी ठीक से समझ में आ सकते हैं, जब न्यायविद्या के अनुरागी लोग संगठित होकर विचार-

विमर्श करें। मुझे लगता है कि हमें न्यायविद्या के संरक्षण्संवर्द्धन हेतु एक संगठन बनाना चाहिए। लोक में हर कार्य के लिए संगठन बने हुए हैं, एक-एक कार्य के लिए अनेक-अनेक संगठन बने हुए हैं, परन्तु इसका कोई संगठन नहीं है। न्यायविद्या के संगठन को न्यायविद्या के संरक्षण-संवर्द्धन हेतु विचार-विमर्श के अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे पाठ्यक्रम भी बनाना चाहिए और उनका अध्ययन करनेवालों को कुछ उपाधियाँ भी देनी चाहिए, जैसे कि पहले 'न्यायतीर्थ' आदि की उपाधियाँ दी जाती थीं। इसी प्रकार कभी-कभी साप्ताहिक कार्यशाला आदि का भी आयोजन करना चाहिए। न्याय का एक ओरिएंटेशन कोर्स भी लोगों को कराया जा सकता है, जिसमें न्याय की उपयोगिता, उसका प्राथमिक परिचय, उसके प्रमुख ग्रन्थ-ग्रन्थकार, उसकी प्रमुख शब्दावली, लक्षणावली आदि विषयों का ज्ञान कराया जाए। इसी प्रकार और भी अनेक सुझाव हो सकते हैं, परन्तु अभी इतना ही कहकर मैं अपनी वाणी को विराम देता हूँ। ❖❖

केवलज्ञान का स्वरूप

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रुवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं॥

–(आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 29)

अर्थ– जैसे आंख रूप को पदार्थों में प्रविष्ट होकर भी और नहीं होकर भी भलीभांति जानती-देखती है, उसी प्रकार केवलज्ञानी आत्मा समस्त जगत को ज्ञेयों में प्रविष्ट होकर भी और नहीं होकर भी निश्चित रूप से जानते-देखते हैं।

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु॥

–(आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 30)

अर्थ– जैसे इस जगत में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा के द्वारा उस दूध को व्याप्त करके रहता है, उसी प्रकार केवलज्ञान सभी ज्ञेय पदार्थों में व्याप्त होकर रहता है।

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा॥

–(आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा 48)

अर्थ– जो ज्ञान एक साथ तीन लोक, तीन काल के पदार्थों को नहीं जानता है, वह सर्वपर्याय सहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता है।

'स्वाहा' पद का गूढार्थ

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

[स्वाहा गूढार्थप्रकाशनम्]

नमः स्वस्ति-स्वाहा-स्वधालंवषट्योगे चतुर्थी ।

—कलाप कातन्त्र[1], कारक, 403, पृष्ठ 73
निर्णयसागराख्ययन्त्रालये, मुम्बई, विक्रम संवत् 1952

'नमः', 'स्वस्ति', 'स्वाहा', 'स्वधा', 'अलम्', 'वषट्' के योग होने पर चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

सूत्र की परिभाषा

अल्पाक्षरमसंदिग्धं, सारवद् गूढनिर्णयम् ।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः॥ —पंचसंग्रह, 585

अर्थ— जिसमें अल्प अक्षर हों, जो संदेह-रहित हो, जिसका गूढ-निर्णय हो, जो निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और तथ्यभूत हो, उसे ही गणधरों ने 'सूत्र' नाम से सम्बोधित किया है।

न्यासः— उपपदविभक्तेरित्यादिक्रियाकारकयोः सम्बन्धस्य बलीयसी भवति।

—आचार्य उग्रभूतिभट्ट, कातन्त्रन्यास, 2-4-26 पृष्ठ 240

उपपद विभक्ति (अर्थात् पद के आधार पर होने वाली विभक्ति) के प्रयोग में भी क्रिया और कारक का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध बलवान् होता है, अतः उपपद विभक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

वृत्तिः (व्याख्यानम्)— नमस्स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगे चतुर्थी नमस् स्वस्ति-स्वाहा स्वधालंवषड्ि भरिति कर्त्तव्ये योगग्रहणं-पर्याप्त्यर्थस्यालंशब्दस्य ग्रहणार्थम् ।

—आचार्य उग्रभूति, कातन्त्रवृत्ति, 2-4-26 पृष्ठ 76

नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषड् के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि 'पृथक्' रूप से 'योग' का उल्लेख किसलिए किया गया है? जिसका उत्तर वृत्तिकार देते हैं— 'पर्याप्ति' अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के लिये योग का

ग्रहण किया गया है।

वायरण-सत्थ-कुसलेहिं। –आचार्य वीरसेन, धवला, भाग 1, पृष्ठ 71

अर्थ– आचार्य पुष्पदंत-भूतबली व्याकरणशास्त्र में अत्यन्त कुशल थे।

'स्वाहा' बीज पद से निर्मित है। इसके गर्भ में अनेक अर्थ छिपे हैं–

सिद्धिरनेकान्तात्। –आचार्य देवनन्दि, जैनेन्द्रप्रक्रिया, 1-2-1

अर्थ– शब्दों की सिद्धि अनेकान्त से सम्भव है, एकान्त से नहीं।

कोरे तर्क की कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं है-

आकारं श्वेतवर्णं तु, सर्वलोकवशंकरम्।
विश्वस्य स्वामिनं ध्यायेत्, समर्थं बहु कर्मसु॥

–आचार्य देवनन्दि, वर्ण तथा फल 1

आ वर्ण श्वेत रंग का है। यह सभी को वश में करने वाला है। बहुत से कार्यों को करने में समर्थ इस वर्ण से विश्व के स्वामी अर्थात् परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

सकारं क्षीरवर्णं तु, गम्भीराधिपसंभूतम्।
हकारं सर्ववर्णं तु, मंत्र-मूर्तिसमन्वितम्॥ –वही, 49

स वर्ण का रंग गाय के दूध के समान होता है। यह शान्ति एवं गम्भीरता से उत्पन्न है। **ह** सर्ववर्णात्मक है। यह मन्त्रात्मक होने से सभी से युक्त है।

ऊष्माणः शषसहाः। –कातन्त्र व्याकरण, 17

ऊष्म उष्णं धर्ममुत्पादयन्तीति शषसहा इत्येते वर्णा ऊष्मसंज्ञा भवन्ति।

'श, ष, स, ह' वर्ण ऊष्म कहे जाते हैं, क्योंकि इनके उच्चारण के समय गले से बाहर निकलने वाली वायु भीतर में अत्यधिक ऊर्जा प्रदान करती है।

इस मानव-शरीर में बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं, उनका शोधन 'स्वाहा' कार पदस्थ ध्यान से भी होता है, जैसे अग्नि में तप्त धातुओं के दोष। 'तुष माष' शब्द लोक धर्म का है, फिर भी केवलज्ञान हो गया।

स्वाहा[2] में वाणी का उच्चारण क्रमशः दाँत, ओष्ठ और कण्ठ से होता है।

सिंहावलोगणण्णाएण। –षट्खंडागम (छक्खंडागम), पु. 13

–यह सिंहावलोकन मात्र है, विस्तार नहीं।

औचित्य का उल्लंघन न करें

औचित्यं न लंघयेत्।

स्वाहा इस महापद का अवबोधन स्वीकार करें–

गुणकोट्या तुलाकोटी, यदेकमपि टीकते।
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते॥

–आशाधरसूरि, अनगार धर्मामृत, 6-25

अर्थात् यदि करोड़ों गुणों को एक तरफ और 'औचित्य' को दूसरी तरफ रखकर देखा जाए तो एक 'औचित्य' का ही प्रमाण अधिक मिलेगा, किन्तु जो नितान्त लुब्धक से आक्रान्त है उसे वह भी विष के समान जान पड़ता है। औचित्य चर्चा मीमांसा ग्रंथ पढ़ने से पता लगता है कि 'औचित्य' पद का क्या महत्त्व है।

सम्यग्ज्ञान का स्रोत अक्षर नहीं, अनुभव है–

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशनम्॥

–आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण 21-156

अर्थात् एक अक्षर, एक पद या उसके अर्थ के दाता को विस्मरण करनेवाला पापी है, तब धर्म-उपदेश को विस्मरण करनेवाला महापापी क्यों न होगा?

'स्वाहा' आगमसम्मत उत्तर

बृहद्दीक्षा विधि-

ओं ह्रीं अर्हं अ सि आ उ सा ह्रीं स्वाहा।

वड्ढमाणविज्जा-

.....अपराजिदो भवदु रक्ख-रक्ख स्वाहा।

वाग्देवी जप-

ओं ह्रीं श्रीं वदवदवाग्वादिनी स्वाहा।

–आचार्य मल्लिसेन, सरस्वती कल्प, 9

गणधरवलय में-

ॐ ह्रीं ह्रुं अ सि आ उ सा झौं झौं स्वाहा।

ऋग्वेद में-

ॐ रक्ष-रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। –ऋग्वेद, 2-4-24

साह — आराधना करना। –अर्धमागधी कोष, भाग 4, पृष्ठ 732

स्वाहा एक विद्या-

विज्जोसाहमंतबलं।

विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहिता मंत्रस्य।

–भगवती आराधना, विजयोदया टीका, 2/1734

अर्थात् जिसके अन्त में 'स्वाहा' कार होता है उसे **विद्या** कहते हैं और जिसके अन्त में 'स्वाहा' कार नहीं उसे **मन्त्र** कहते हैं। 'स्वाहा' पदस्थ ध्यान का निमित्त और पुण्यबंध, पापक्षय का कारण भी है। **स्वाहा** आर्ष पद है, अनघड़ नहीं।

–बुद्धिमान् साधु परमागम से विचार किए हुए विषय को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे सत्य महाव्रत, भाषा समिति एवं वचन गुप्ति का ध्यान रखते हैं।

दिगम्बर साधु तो पूर्णतः निर्वृत्त होते हैं, उनके पास समय भी बहुत होता है, अतः उन्हें तो विशेष रूप से स्वाध्यायादि द्वारा शब्दसाधना की वृद्धि करनी चाहिए। प्रतिदिन कम से कम एक-एक शब्द का तो सर्वांग एवं गूढ़ अध्ययन करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। वे अपने ज्ञान का समीचीन विकास इस शब्द-साधना के द्वारा ही कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। कहा गया है कि जिसप्रकार राजा के पास 'कोष' (धन का भंडार) होना आवश्यक है, उसी प्रकार विद्वान् के पास 'कोश' (शब्द का भंडार) होना आवश्यक है–

कोषस्येव महीपानां कोशस्य विदुषामपि।
उपयोगो महान् यस्मात् क्लेशस्तेन विना भवेत्॥

स्वाहा : शान्तिकम्। –जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, वर्ष 20, दूसरा किरण

स्वाहा और पूजा का फल-

यस्यार्थं क्रियते पूजा, तस्य शांतिर्भवेत् सदा।
शांतिके पौष्टिके चैव, सर्वकार्येषु सिद्धिदा॥

- **साहा** – (स्वाहा) अव्यय

  देवतायै द्रव्यत्यागार्थं प्रयुज्यमाने शब्दे। –अभिधान राजेन्द्र कोश, 7/800

- **स्वाहा** परमागम-सम्मत महापद है।
- **साहा** (स्त्री)— प्रशंसा।
- **साहा** अव्यय (स्वाहा)— देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग का सूचक।
- **साहा** स्त्री (शाखा)— एक ही आचार्य की संतति में उत्पन्न अमुक मुनि की सन्तान-परम्परा। –पाइअसद्दमहण्णवो, पृष्ठ 896

  ...गुरुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरः सरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनाऽष्टतयी-मिष्टिं करोमीति स्वाहा। –सोमदेवसूरि, यशस्तिलक, 8, पृष्ठ 382

- **णमो अरिहंताणं ह्रीं अवतर-अवतर स्वाहा।** –भद्रबाहुसंहिता, पृष्ठ 488

- **साहा अव्यय स्वाहा-समर्पण।** —अर्धमागधी कोष, भाग 4, पृष्ठ 734
- **स्वाहापति** स्वाहापति का अर्थ हवा है। —धनंजय-नाममाला, पृष्ठ 32-33

वैयाकरणों का एक प्रसिद्ध श्लोक है कि शब्द का अर्थ करते समय व्याकरण, निरुक्ति, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सिद्धपद का सामीप्य —इतने अनुबन्धों का ध्यान रखना चाहिए। अन्यथा अर्थ विपरीत भी हो सकता है।

स्वाहा और ध्वजारोहण विधि-

श्रीमज्जिनस्य जगदीश्वरताध्वजस्य।
मीनध्वजादिरिपुजाल जयध्वजस्य॥
तन्यासदर्शनजनागमन ध्वजस्य।
चारोपणं विधिवदाविदधे ध्वजस्य॥

—प्रतिष्ठातिलक 5-1, पृष्ठ 85

यानि— जो ध्वजा वीतराग जिनेश्वर देव की जगदीश्वरता, कामदेवादि शत्रु-समूह पर विजय तथा जिनबिम्ब-मूर्ति के दर्शनार्थियों के आवाहन आदि की प्रतीकचिह्न है, मैं ऐसी [**पंचवर्ण केतन्,** प्रतिष्ठातिलक, पृष्ठ 84] महाध्वजा का (विधिवत्— **ओं ह्रीं श्रीं क्षीं भूः स्वाहा**) विधिपूर्वक आरोहण करता हूँ।

इति ध्वजारोहणविधिं स-भेरीसंताडनं यो विदधाति भव्यः।

जो भव्य श्रावक, श्राविका इसप्रकार भेरी (शंख-वादित्र) के जयघोषपूर्वक महाध्वजारोहण-विधि को सम्पन्न कराता है, वह मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

'जय' का अर्थ है— सावधान हो, संकल्प करो और सम्यक् श्रद्धा रखो।

इति ध्वजस्थापनम्।।

पंचरंग ध्वज-गीत-

आदि ऋषभ के पुत्र भरत का, भारत देश महान।
ऋषभदेव से महावीर तक, करें सुमंगल गान।।
पंच रंग पाँचों परमेष्ठी, युग को दें आशीष।
विश्व शान्ति के लिए झुकाएँ, पावन ध्वज को शीष।
'जिन' की ध्वनि जैन की संस्कृति, अग-जग को वरदान।

बृहत् शान्तिधारा पाठ

ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषदोषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये श्रीशान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रव

विनाशनाय सर्वारिष्टशान्ति-कराय ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः सर्वविघ्नशान्तिं कुरु कुरु तुष्टिं पुष्टिं कुरु कुरु स्वाहा। –पूजन-पाठ-प्रवीन, पृष्ठ 484

गंधोदक देने का मन्त्र-

यत्प्रसादाद्धि चारित्ररत्नमासाध्यमुच्यते।
भूता भवंतो भव्याश्च प्रणम्यं गुरुपादयोः॥ –जिनेन्द्रपूजापाठ, पृष्ठ 32

गंधोदक लेते समय व्रती पढ़ते हैं-

ओं नमोऽर्हत्परमेष्ठिभ्यो मम सर्वशांतिर्भवतु स्वाहा-गंधोदकेन आत्मपवित्रीकरणम्।
–जिनेन्द्रपूजापाठ, पृष्ठ 32

स्वाहा अमलालीढ और पूज्य पद है।

हम ज्ञान को परम विवेक के साथ चाहते हैं-

अर्हत्परमेष्ठिने जन्म-जरा-मृत्यु-विनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।
–ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ 39

अर्थ– श्री अरिहंत परमेष्ठि के लिए मैं जन्म, जरा तथा मृत्यु नष्ट करने के लिए जल को **अर्पण** करता हूँ।

शास्त्राभ्यास करनेवाले जिज्ञासु को इस प्रसिद्ध वाक्य को स्मरण करना चाहिये–

दुर्मेधेव सुशास्त्रे वा तरणी न चलत्यत्।
–आचार्य शुभचन्द्र, पाण्डवपुराण 12-254

मनुष्य की दुष्ट बुद्धि हितकर शास्त्रों में चलाने पर भी नहीं चलती है।

सारांश– 'नमः' शब्द से अहंकार नष्ट होता है।'स्वाहा' शब्द आत्म-शांतिकारक है। एतावता परम मंगलमय है।

स्वाहा– मेरी क्रिया स्वस्तिकारक हो।

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थ श्रमः श्रुतौ। –क्षत्रचूड़ामणि

हेय और उपादेय के ज्ञान बिना शास्त्रों में किया गया सारा श्रम व्यर्थ है।

सन्दर्भ सूची

1. कातन्त्रप्रवर्तककालो विक्रमपूर्ववृतीयसहस्राब्दीति मन्यते।
–लेखक– लोकमणिदाहाल, व्याकरणशास्त्रेतिहासः, पृष्ठ 260, 1990
कातन्त्र व्याकरण का काल विक्रम पूर्व 3000 साल है।
2. वकारं श्वेतवर्णं तु, वारुण्यमधिदैवतम्। –आचार्य देवनन्दि, वर्ण तथा फल, 45
– वाशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः –यहाँ **वा** शब्द समुच्चय के लिये है। ❖❖

जैन योग में सामायिक

—आचार्य श्रुतसागर मुनिराज

जैन योग में अन्तरात्मा से परमात्म तत्त्व को प्राप्त करने में तथा समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष पद को प्राप्त करने में सामायिक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामायिक का अर्थ जीवन में, मरण में, लाभ में, अलाभ में, सुख में, दुःख में, संयोग में, वियोग में, शत्रु में, मित्र में समस्त संकल्प-विकल्प का त्याग करके समता भाव रखना है। सामायिक का अर्थ शुभ-अशुभ विचारों में शांत परिणाम रहना है। यह श्रावकों के लिए निश्चित समय के लिए होता है एवं साधु का जीवन ही समतामय रहता है। सामायिक आत्मा को परमात्म तत्त्व से जोड़ता है, इसलिए मोक्षमार्ग में सामायिकयोग महत्त्वपूर्ण है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में सामायिक शब्द की निरुक्ति का अर्थ बताते हैं– **एकत्वेन अयनं गमनं समयः, समय एव सामायिकं। समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्।** –स.सि./7/21/360/7

अर्थ– (1) समय अर्थात् आत्मा को एक साथ जानना, गमन करना अर्थात् अनुभव करना है। वह समय है तथा समय ही सामायिक है। (2) समय अर्थात् आत्मा ही प्रयोजन है जिसका, अन्य कोई भी पदार्थ से कोई प्रयोजन नहीं है वह सामायिक है। –रा.वा./7/21/7/548/3, गो.क./जी.प्र./547/713/18

हिंसा आदि अनर्थ से अलग होना अर्थात् पापरूप विचारों का शांत होना,निर्विचार होना और समय अर्थात् अपने आत्मस्वरूप में रहना, वही सामायिक है। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य अकलंकदेव राजवार्तिक ग्रन्थ में कहते हैं–

''आयन्तीत्यायाः अनर्थाः सत्त्वव्यपरोपणहेतवः, संगताः आयाः समायाः सम्यग्वा आयाः समायास्तेषु ते वा प्रयोजनमस्येति सामायिकमवस्थानम्।''

–रा.वा./9/18/1/616/25

अर्थ– आय अर्थात् अनर्थ अर्थात् प्राणियों की हिंसा के हेतुभूत परिणाम। उस आय या अनर्थ का सम्यक् प्रकार से नष्ट हो जाना ही समाय है। अथवा सम्यक् आय अर्थात् आत्मा के साथ एकीभूत होना सो समाय है। उस समाय में

हो या वह समाय ही है प्रयोजन जिसका सो सामायिक है। तात्पर्य यह है कि हिंसादि अनर्थों से सतर्क रहना सामायिक है।

''समम् एकत्वेन आत्मनि आय: आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्त्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्ति: समाय: अयमहं ज्ञाता द्रष्टा चेति आत्मविषयोपयोग इत्यर्थ: आत्मन: एकस्यैव ज्ञेयज्ञायकत्वसंभवात्।'' —गो.जी./जी.प्र./367/789/10

अर्थ— सं अर्थात् एकत्वपने से आय अर्थात् आगमन। अर्थात् परद्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना। 'यह मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ'— ऐसा आत्मा में जो उपयोग है सो सामायिक है। एक ही आत्मा स्वयं ही ज्ञेय है और स्वयं ही ज्ञाता है, इसलिये अपने को ज्ञाता-द्रष्टारूप अनुभव कर सकता है।

''अथवा सं समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आय: उपयोगस्य प्रवृत्ति: समाय: स प्रयोजनमस्येति सामायिकं।'' —अन.ध./8/19/742

अर्थ— अथवा 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा है। उसमें आय अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति सो समाय है। वह समाय ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं।

''सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समय: स्वविषयेभ्यो विनिवृत्त्य कायवाङ्मन: कर्मणामात्मना सह वर्तनाद्रव्यार्थेनात्मन: एकत्व गमनमित्यर्थ:। समय एव सामायिकं, समय: प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्।'' —चा.सा./19/1

अर्थ— अच्छी तरह प्राप्त होना अर्थात् एकान्त रूप से आत्मा में तल्लीन हो जाना समय है। मन, वचन, काय की क्रियाओं का अपने-अपने विषय से हटकर आत्मा के साथ तल्लीन होने से द्रव्य तथा अर्थ दोनों से आत्मा के साथ एकरूप हो जाना ही समय का अभिप्राय है। समय को ही सामायिक कहते हैं। अथवा समय ही जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है।

समता और साम्य का लक्षण करते हुए ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहते हैं—

''चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितै:।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत्॥'' —ज्ञा./24/श्लोक 2

अर्थ— जिस पुरुष का मन चित् (पुत्र-मित्र-कलत्रादि) और अचित् (धन-धान्यादि) इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता, उस पुरुष के ही साम्यभाव में स्थिति होती है।

''आशा: सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्या: क्षयं क्षणात्।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना॥''

—ज्ञा./24/श्लोक 11

अर्थ– जिस पुरुष के समभाव की भावना है, उसके आशाएँ तो तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षण भर में क्षय हो जाती है, उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है।

''अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्॥''–ज्ञा./24/श्लोक 17

अर्थ– जिस समय यह आत्मा अपने को समस्त परद्रव्यों व उनकी पर्यायों से भिन्न स्वरूप निश्चय करता है, उसी समय साम्यभाव उत्पन्न होता है।

''क्रोध विद्वेषु सत्त्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु॥'' –ज्ञा./25/श्लोक 13
''देवागमय तिनातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता॥''–ज्ञा./25/श्लोक 14

अर्थ– क्रोधी, निर्दय, क्रूरकर्मी, मद्य, मांस, मधु व परस्त्रियों में लुब्ध, अत्यन्त पापी, देव-गुरु-शास्त्रादि की निन्दा करनेवाले ऐसे नास्तिकों में तथा अपनी प्रशंसा करने वालों में माध्यस्थ भाव का होना उपेक्षा कही गयी है।

''अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यते।''
–प्र.सा./ता.वृ./42/335/10

अर्थ– शत्रु-मित्र व बन्धु वर्ग में, सुख-दुःख में, प्रशंसा-निन्दा में, लोष्ठ व सुवर्ण में, जीवन और मरण में जिसे समान भाव है वह श्रमण है– ऐसा जो संयत तपोधन का साम्य लक्षण किया गया है वही श्रामण्य का अपरनाम मोक्षमार्ग कहा जाता है।

''आत्मसु सर्वजीवेषु समभावः समता परिणामः, यादृशो मोक्षस्थाने सिद्धो वर्तते तादृश एव ममात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः सिद्धपरमेश्वरसमानः, यादृशोऽहं केवलज्ञान-स्वभावस्तादृश एव सर्वोऽपि जीवराशिरत्र भेदो न कर्त्तव्यः।'' –मो.पा./टी./50/342/12

अर्थ– अपने आत्मा में तथा सर्वजीवों में समभाव अर्थात् समता परिणाम ऐसा होता है– मोक्षस्थान में जैसे सिद्ध भगवान् हैं वैसे ही मेरा आत्मा भी सिद्ध परमेश्वर के समान शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी है और जैसा केवलज्ञानस्वभावी मैं हूँ, वैसी ही सर्व जीवराशि है। यहाँ भेद नहीं करना चाहिये।

माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, वैतृष्ण्य, परम शान्ति– ये सब एकार्थवाची नाम हैं।

''समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तहा चरित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया॥'' –न.च./वृ. 356

अर्थ– समता तथा माध्यस्थता, शुद्ध भाव तथा वीतरागता, चारित्र तथा धर्म– ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। एवं इन्हें ही स्वभाव की आराधना कहा गया है।

सामायिक एवं समता भाव के बारे में मूलाराधना ग्रन्थ में कहते हैं–

''जं च समो अप्पाणं परं य मादूय सव्वमहिलासु।
अप्पियपियमाणादिसु तो समणो सो य सामाइयं॥'' –मू.आ. 521

अर्थ– स्व व पर में राग व द्वेष रहित होना, सब स्त्रियों को माता के समान देखना, शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि में समभाव रखना, ये सब श्रमण के लक्षण हैं। उसे ही सामायिक भी जानना।

''जो जाणइ समवायं दव्वाण गुणाण पज्जयाणं च।
सब्भावं ते सिद्धं सामाइयं उत्तमं जाणे॥'' –मू.आ. 522

अर्थ– जो द्रव्यों, गुणों और पर्यायों के सादृश्य को तथा उनके एक जगह स्वतः सिद्ध रहने को जानता है, वह उत्तम सामायिक है।

''जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
जस्स रागो य दोसो य वियडिं ण जाणंति दु॥'' –मू.आ. 526

अर्थ– त्रस स्थावर रूप सर्वप्राणियों में समान परिणाम होना तथा राग-द्वेषादि भावों के कारण आत्मा में विकार उत्पन्न न होना वही परम सामायिक है।

अमितगति श्रावकाचार में सामायिक के बारे में इस प्रकार कहा गया है–

''जीविते मरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये।
शत्रौ मित्रे सुखे दु:खे साम्यं सामायिकं विदु: ॥'' –अ.ग.श्रा./8/31

अर्थ– जीवन व मरण में, संयोग व वियोग में, अप्रिय व प्रिय में, शत्रु व मित्र में, सुख व दुःख में समभाव को सामायिक कहते हैं।

''सत्तु मित्त मणि पाहाण सुवण्ण मट्टियासु रागदेसाभावो समदा णाम।''
–ध.8/3,41/84/1

अर्थ– शत्रु-मित्र, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मृत्तिका में राग-द्वेष के अभाव को समता कहते हैं।

''सामायिकं सर्वजीवेषु समत्वम्।'' –भा.पा./टी./77/221/13

अर्थ– सर्व जीवों में समान भाव रखना सामायिक है।

''रागदोसो णिरोहित्ता समदा सव्वकम्मसु।
सुत्तेसु अ परिणामो सामाइयमुत्तमं जाणे॥'' –मू.आ. 523

अर्थ– सब कार्यों में राग-द्वेष को छोड़कर समभाव होना और द्वादशांग सूत्रों

में श्रद्धान होना उत्तम सामायिक है।

राजवार्तिक ग्रन्थ में इसप्रकार व्याख्या करते हुए आचार्य भगवन कहते हैं–

''चित्तस्यैकत्वेन ज्ञानेन प्रणिधानं वा।''

–रा.वा./6/24/11/530/12

अर्थ– एक ज्ञान के द्वारा चित्त को निश्चल रखना सामायिक है।

''आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स॥''–नि.सा./मू./147

अर्थ– यदि तू आवश्यक को चाहता है, तो आत्मस्वभाव में स्थिरभाव कर, जिससे कि जीवों को सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।

''यत्सर्वद्रव्यसंदर्भे रागद्वेषव्यपोहनम्।
आत्मतत्त्वनिविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते॥'' –यो.सा./अ./5/47

अर्थ– सर्व द्रव्यों में राग-द्वेष का अभाव तथा आत्मस्वरूप में लीनता सामायिक कही जाती है।

''विरदो सव्व सावज्जो तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलि सासणे॥'' –नि.सा./मू./125

अर्थ– जो सर्व सावद्य में विरत है, जो तीन गुप्तिवाला है और जिसने इन्द्रियों को बंद किया है, उसे सामायिक स्थायी है।

''तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं॥''

–रा.वा./6/24/11/530/11

अर्थ– सर्व सावद्य योग की निवृत्ति ही सामायिक का लक्षण है।

''सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे॥'' –मू.आ./519

अर्थ– सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम, तप– इनके द्वारा जीव की प्रशस्त प्राप्ति अथवा उनके साथ जीव की एकता, वह समय है। उसी को सामायिक कहते हैं।

''जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलि सासणे॥'' –मू.आ./525

अर्थ– जिसका आत्मा संयम, नियम व तप में लीन है, उसके सामायिक तिष्ठति है।

''तीसु वि संझासु पक्खमास संधिदिणेसु वा सगिच्छिदवेलासु।
वा वज्झंतरं गासेसत्थेसु संपरायणिरोहो वा सामाइयं णाम॥''

–क.पा./1/1,1/81/98/5

अर्थ– तीनों ही सन्ध्याओं में या पक्ष और मास के सन्धिदिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अंतरंग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करना सामायिक है।

''नित्य नैमित्तिकानुष्ठानं तत्प्रतिपादकं शास्त्रं वा सामायिकमित्यर्थः।''

–गो.जी./जी.प्र./367/789/12

अर्थ– नित्य नैमित्तिक क्रिया विशेष तथा सामायिक का प्रतिपादक शास्त्र भी सामायिक कहलाता है।

''सामाइयं चउव्विहं, दव्वसामाइयं खेत्तसामाइयं कालसामाइयं भावसामाइयं चेदि।''

अर्थ– द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक के भेद से सामायिक चार प्रकार का है।

''तत्थ सचित्ताचित्त रागदोस णिरोहो दव्व सामाइयं णाम।''

अर्थ– उनमें से सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग और द्वेष का निरोध करना द्रव्य सामायिक है।

''णयर खेट कव्वड मडंव पट्टण-दोणमुह जणवदादिसु।
रागदोसणिरोहो सगावास विसय संपरायणिरोहो वा खेत्तसामाइयं णाम॥''

अर्थ– ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मडम्ब, पट्टन, द्रोणमुख और जनपद आदि में राग और द्वेष का निरोध करना अथवा अपने निवास स्थान में कषाय का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है।

''छउदुविसयसंपरायणिरोहो काल सामाइयं।''

अर्थ– बसन्त आदि छः ऋतु विषयक कषाय का निरोध करना अर्थात् किसी भी ऋतु में इष्ट अनिष्ट बुद्धि न करना काल सामायिक है।

''णिरुद्धासेसकसायस्स वंतमिच्छत्तस्स णयणिउणस्स छदव्वविसओ।
बोहो बाहविवज्जिओ भाव सामाइयं णाम॥''

अर्थ– जिसने समस्त कषायों का निरोध कर दिया है तथा मिथ्यात्व का वमन कर दिया है और जो नयों में निपुण है ऐसे पुरुष को बाधा रहित और अस्खलित जो छह द्रव्य विषयक ज्ञान होता है, वह भाव सामायिक है।

''नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयोः।
पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्याः सामायिकादयः॥''–अन.ध./8/18/742

अर्थ– नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपों पर सामायिकादि षट्आवश्यकों को घटित करके व्याख्यान करना चाहिये।

''शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहत:।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्नरतिं यामि नारतिम्॥'' –अन.ध./8/21/742

अर्थ– किसी भी शुभ या अशुभ नाम में अथवा यदि कोई मेरे विषय में ऐसे शब्दों का प्रयोग करे तो उनमें रति या अरति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि शब्द मेरा स्वरूप या लक्षण नहीं है।

''यदिदं स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुन:।
इदं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे॥'' –अन.ध./8/22/742

अर्थ– यह जो सामने वाली प्रतिमा मुझे जिस अर्हन्तादि रूप का स्मरण करा रही है, मैं उस मूर्ति रूप नहीं हूँ, क्योंकि मेरा साम्यानुभव न तो इस मूर्ति में ठहरा हुआ है और न ही इससे विपरीत है। यह स्थापना सामायिक है।

''साम्यागमज्ञतद् देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रह:॥'' –अन.ध./8/23/742

अर्थ– सामायिक शास्त्र का ज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर तथा इनसे विपक्ष (अर्थात् आगम नोआगम भाविनीआगम व तद्व्यतिरिक्त आदि) जैसे कुछ भी शुभ या अशुभ है, रहें, मुझे इनसे क्या; क्योंकि ये परद्रव्य हैं। इनमें मुझे स्वद्रव्य की तरह अभिनिवेश कैसे हो सकता है? यह द्रव्य सामायिक है।

''राजधानीति न प्राये नारण्यनीति चोद्विजे।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मरामस्य कोऽपि मे॥''
–अन.ध./8/24/742

अर्थ– यह राजधानी है, इसलिये मुझे इससे प्रेम हो और यह अरण्य है इसलिये मुझे इससे द्वेष हो– ऐसा नहीं है। क्योंकि मेरा रमणीय स्थान आत्मस्वरूप है। इसलिये मुझे कोई भी बाह्यस्थान मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं हो सकता। यह क्षेत्र सामायिक है।

''नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा काल: किं तर्हि पुद्गल:।
क्षयोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम्॥''–अन.ध./8/25/742

अर्थ– कालद्रव्य तो अमूर्त है, इसलिये हेमन्तादि ऋतु ये काल नहीं हो सकते, बल्कि पुद्गल की उन-उन पर्यायों में काल का उपचार किया जाता है। मैं कभी भी उसका स्पर्श्य नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अमूर्त व चित्स्वरूप हूँ। यह काल सामायिक है।

''सर्वे वैभाविका भावा मत्तोऽन्ये तेष्वत: कथम्।
चिच्चमत्कार मात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम्॥''–अन.ध./8/26/742

अर्थ– औदयिकादि तथा जीवन-मरण आदि ये सब वैभाविक भाव मेरे भाव नहीं हैं; क्योंकि मुझसे अन्य हैं। अतएव एक चिच्चमत्कार मात्र स्वरूपवाला मैं इनसे राग-द्वेषादि को कैसे प्राप्त हो सकता हूँ।

''जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दु:खे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्॥'' –अन.ध./8/27/742

अर्थ– जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में, सुख-दु:ख में, इन सबमें मैं साम्यभाव धारण करता हूँ।

''मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
सर्व सावद्यविरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत्॥'' –अन.ध.8/35/742

अर्थ– सम्पूर्ण प्राणियों में मेरा मैत्रीभाव हो, किसी से भी मुझे वैर न हो। मैं सम्पूर्ण सावद्य से निवृत्त हूँ। इस प्रकार के भावों को धारण करके भाव सामायिक पर आरुढ़ होना चाहिये।

''तच्च नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव भेदात्षड्विधम्। तत्र इष्टानिष्टनामसु रागद्वेषनिवृत्ति: सामायिकमित्यभिधानं वा नाम सामायिकम्।''

–गो.जी./जी.प्र./367/789/13

अर्थ– नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के भेद से सामायिक छह प्रकार की है। तहाँ इष्ट व अनिष्ट नामों में राग-द्वेष की निवृत्ति अथवा सामायिक ऐसा नाम कहना सो नाम सामायिक है।

''मनोज्ञामनोज्ञासु स्त्रीपुरुषाद्याकारासु काष्ठलेप्यचित्रादिप्रतिमासु रागद्वेष निवृत्ति इदं सामायिकमिति स्थाप्यमानं यत् किंचिद्वस्तु वा स्थापनासामायिकम्''

–गो.जी./जी.प्र./367/789/13

अर्थ– मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्त्री-पुरुष आदिक के आकारों में अथवा उनकी काष्ठ, लेप्य, चित्र आदि प्रतिमाओं में राग-द्वेष की निवृत्ति स्थापना सामायिक है। अथवा 'यह सामायिक है' इसप्रकार से स्थापी गयी कोई वस्तु स्थापना सामायिक है।

''सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
मण वयण काय सुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव॥''

–का.अ./मू./352

अर्थ– सामायिक करने के लिये क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन:शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि ये सात बातें जाननी चाहिये।

सामायिक विधि के सम्बन्ध में 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में कहा गया है–

''चतुरावर्त्तत्रितयश्चतु:प्रणामस्थितो यथाजात:।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥''—र.श्रा./139

अर्थ— जो चार दिशाओं में तीन-तीन आवर्त करता है, चार दिशाओं में चार प्रणाम करता है, कायोत्सर्ग में स्थित रहता है, अंतरंग-बहिरंग परिग्रह की चिंता से परे रहता है, खड्गासन और पद्मासन इन दो आसनों में से कोई एक आसन लगाता है, मन-वचन-काय के व्यापार को शुद्ध रखता है और त्रिकाल (पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न) वंदना करता है। वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

इसी संदर्भ में वसुनन्दी श्रावकाचार में इसप्रकार निरूपित किया गया है—

''होऊण सुई चेइय गिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो।
अण्णत्थ सुइपएसे पुव्वमुहो उत्तरमुहो वा॥'' —वसु.श्रा./274

''जिणवयण धम्म चेइय परमेट्ठि जिणालयाण णिच्चंपि।
जं वंदणं तियालं कीरइं सामाइयं तं खु॥''
—वसु.श्रा./275

अर्थ— स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्व मुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल वंदना की जाती है, वह सामायिक नामक तीसरा प्रतिमा स्थान है।

''मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञा:॥'' —र.क.श्रा./98

अर्थ— केश, हाथ की मुट्ठी व वस्त्रादि को बांधकर, क्षेत्र व काल की सीमा करके, सर्व सावद्य से निवृत्त होना सामायिक प्रतिमा है।

''पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालिया-छक्को।
सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस णिद्दिट्ठो॥''—का.अ./मू./354

अर्थ— विनय संयुक्त गणधरदेव आदि ने पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीनों कालों में छह-छह घटी सामायिक का काल कहा है।

सामायिक योग्य आसन मुद्रा क्षेत्रादि के सम्बन्ध में कृतिकर्म में इसप्रकार कहा है— पल्यंकासन या कायोत्सर्ग आसन इन दो आसनों से सामायिक की जाती है। कमर सीधी व निश्चल रहे, नासाग्र दृष्टि हो, अपनी गोद में बायें हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखा हो, नेत्र न अधिक खुले हों न मुँदे, निद्रा आलस्य रहित प्रसन्न वदन हो, ऐसी मुद्रा सहित करे। शुद्ध, निर्जीव व छिद्र रहित भूमि, शिला अथवा तख्तेमयी पीठ पर करें। गिरि की गुफा, वृक्ष की कोटर,नदी का

पुल, श्मशान, जीर्णोद्यान, शून्यागार, पर्वत का शिखर, सिद्धक्षेत्र, चैत्यालय आदि शान्त व उपद्रव रहित क्षेत्र में सामायिक करें। वह क्षेत्र क्षुद्र जीवों की अथवा गर्मी-सर्दी आदि की बाधाओं से रहित होना चाहिये। स्त्री, पाखण्डी, तिर्यंच, भूत, वेताल आदि व्याघ्र, सिंह आदि तथा अधिक जनसंसर्ग से दूर होना चाहिये। निराकुल होना चाहिये। पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके करनी चाहिये। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की तथा मन-वचन-काय की शुद्धि सहित करनी चाहिये।

''शीतोष्ण दंशमशक परिषहमुपसर्गमपि च मौनधराः।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥''–र.क.श्रा./103

अर्थ– सामायिक को प्राप्त होने वाले मौनधारी अचलयोग होते हुये शीत उष्ण डांस मच्छर आदि की परिषह को और उपसर्ग को भी समताभावपूर्वक सहन करते हैं।

सामायिक योग्य ध्येय के सम्बन्ध में रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा गया है–

''अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवं।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके॥''
–र.क.श्रा./104

अर्थ– मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दुःखमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिक में ध्यान करना चाहिये।

''चिंतंतो ससरूवं जिणबिम्बं अहव अक्खरं परमं।
झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं॥'' –का.अ./म./372

अर्थ– अपने स्वरूप का अथवा जिनबिम्ब का अथवा पंचपरमेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मविपाक का (अथवा पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप का, तीनों लोक का और अशरण आदि वैराग्य भावनाओं का) चिन्तवन करते हुये ध्यान करता है, उसके सामायिक प्रतिमा होती है।

जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनधर्म, पंचपरमेष्ठी तथा कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालय का भी ध्यान किया जाता है। पंचनमस्कार मन्त्र का, प्रातिहार्य सहित अर्हन्त के स्वरूप का तथा सिद्ध के स्वरूप का ध्यान करता है।

सामायिक व्रत के सम्बन्ध में 'पद्मनन्दि-पंचविंशतिका' में कहा गया है–

''समता सर्वभूतेषु संयमे शुभ भावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥'' –पं.विं./6/8

अर्थ– सब प्राणियों में समताभाव धारण करना, संयम के विषय में शुभ विचार

रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानों का त्याग करना, इसे सामायिक व्रत माना है।

''आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिका: सामायिकं नाम शंसन्ति॥'' –र.क.श्रा./97

अर्थ– मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना ऐसे नवकोटि से की हुई मर्यादा के भीतर या बाहर भी किसी नियत समय (अन्तर्मुहूर्त) पर्यंत पाँचों पापों का त्याग करने को सामायिक कहते हैं।

''काउसग्गम्हि ठिओ लाहालाहं च सत्तुमित्तं च।
संयोय विप्पजोयं तिणकंचणं चंदणं वासिं॥'' –वसु.श्रा./276
''जो पस्सइ समभावं मणम्मि धरिऊण पंचणवयारं।
पर अट्ठपाडिहेरेहिं संजुयं जिणसरूवं च॥'' –वसु.श्रा./277
''सिद्धसरूवं झायइ अहवा झाणुत्तमं ससंवेयं।
खणमेक्क मविचलंगी उत्तम सामाइयं तस्स॥'' –वसु.श्रा./278

अर्थ– जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, इष्टवियोग व अनिष्टसंयोग को, तृण-कंचण को, चन्दन और कुल्हाड़ी (कुठार) को समभाव से देखता है और मन में पंचनमस्कार मन्त्र को धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हन्त जिन के स्वरूप को और सिद्ध भगवान के स्वरूप को ध्यान करता है अथवा संवेग सहित अविचल अंग होकर एक क्षण को भी उत्तम ध्यान करता है उसको उत्तम सामायिक होती है।

सागार धर्मामृत में कहा गया है–

''सुदृग्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधी: ।
भजंस्त्रिसन्ध्यं कृच्छेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत्॥'' –सा.ध./7/1

अर्थ– जिस श्रावक की बुद्धि निरतिचार सम्यग्दर्शन, निरतिचार मूलगुण और निरतिचार उत्तर गुणों के समूह के अभ्यास से विशुद्ध है, ऐसा श्रावक पूर्वाह्न, मध्याह्न व अपराह्न इन तीनों कालों में परिषह उपसर्ग उपस्थित होने पर भी साम्य परिणाम को धारण करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

''त्रिकाल सामायिके प्रवृत्त: तृतीय:।'' –द्र.सं./टी./45/195/5

अर्थ– जब (पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न) ऐसी त्रिकाल सामायिक में प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाधारी होता है।

आवर्त व नमस्कार आदि योग्य कृतिकर्म युक्त होकर पूर्वाह्न, मध्याह्न व अपराह्न इन तीन सन्ध्याओं में क्षेत्र व काल की सीमा बांधकर जो पंचपरमेष्ठी आदि का या आत्मस्वरूप का चिन्तवन करता है। वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

''सामायिकः सन्ध्यात्रयेऽपि भुवनत्रयस्वामिनं।
वन्दमानो वक्ष्यमाण व्युत्सर्गतपसि कथितक्रमेण॥''—चा.सा./37/1

अर्थ— सामायिक सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय करना चाहिये और वह तीनों लोकों के स्वामी भगवान जिनेन्द्र देव को नमस्कार कर आगे जो व्युत्सर्ग नाम का तपश्चरण कहेंगे उसमें कहे हुए क्रम के अनुसार अर्थात् कायोत्सर्ग करते हुए करना चाहिये।

सामायिक व्रत व सामायिक प्रतिमा में अन्तर समझाते हुये चारित्रसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं—

''अस्य सामायिकस्यानन्तरोक्तशीलसप्तकान्तर्गतं सामायिकव्रतं शीलं भवतीति।''
—चा.सा./37/3

अर्थ— पहिले व्रत प्रतिमा में 12 व्रतों के अंतर्गत सात शीलव्रतों में सामायिक नाम का व्रत कहा है। वही सामायिक इस सामायिक प्रतिमा पालन करने वाले श्रावक के व्रत हो जाता है जबकि दूसरी प्रतिमा वाले के वही शील रूप (अर्थात् अभ्यास रूप से) रहता है।

''दिनं प्रति एकवारं द्विवारं त्रिवारं वा व्रतप्रतिमायां सामायिकं भवति।
यत्तुसामायिक प्रतिमायां सामायिकं प्रोक्तं तत्त्रीन्वारान् निश्चयेन करणीयमिति ज्ञातव्यं॥''
—चा.पा./टी./25/45/15

अर्थ— व्रत प्रतिमा में एक बार, दो बार अथवा तीन बार सामायिक होती है (कोई नियम नहीं है), जबकि सामायिक प्रतिमा में निश्चय से तीन बार सामायिक करने योग्य है— ऐसा जानना चाहिये।

''सामाइम्हि दु कदे समणो वि सावओ हवदि जम्हा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा॥'' —मू.आ./531

अर्थ— सामायिक करता हुआ श्रावक भी संयमी मुनि के समान हो जाता है, इसलिये प्रायः करके सामायिक करनी चाहिये।

''सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं॥''
—र.क.श्रा./102

अर्थ— सामायिक में आरम्भ सहित सब ही प्रकार के परिग्रह नहीं होते हैं, इस कारण उस समय गृहस्थ भी उस मुनि के तुल्य हो जाता है जिसे कि उपसर्ग के रूप में वस्त्र ओढ़ा दिया गया हो।

''इयति देशे एतावति काले इत्यवधारिते सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्वं पूर्ववद्

वेदितव्यम्। कुतः। अणुस्थूल कृत हिंसादि निवृत्तेः।'' —स.सि./7/21/360/9

अर्थ— इतने देश में और इतने काल तक इस प्रकार निश्चित की गई सीमा में, सामायिक में स्थित पुरुष के पहिले के समान महाव्रत जानना चाहिये, क्योंकि इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हिंसा आदि पापों का त्याग हो जाता है।

''सामायिकश्रितानां समस्त सावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य॥'' —पु.सि.उ./150

अर्थ— इन सामायिक दशा को प्राप्त हुये श्रावकों के चारित्रमोह के उदय होते भी समस्त पाप के योगों के परिहार से महाव्रत होता है।

''हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्त्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति।''
—चा.सा./19/4

अर्थ— विषय और कषायों से निवृत्त होकर सामायिक में वर्तमान गृहस्थ महाव्रती होता है।

''बंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा।
कालपमाणं किच्चा इंदिय वावार वज्जिदो होउं॥'' —का.अ./355
''जिणवयणे यग्गमणो संबुड काओ य अंजलिं किच्चा।
स-सरूवे संलीणो वंदण अत्थं विचिंतंतो॥'' —का.अ./356
''किच्चा देसपमाणं सव्वं सावज्ज वज्जिदो होउं।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि सरिसो हवे ताव॥'' —का.अ./357

अर्थ— पर्यंक आसन को बांधकर अथवा सीधा खड़ा होकर, काल का प्रमाण करके इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ने के लिये जिनवचन में मन को एकाग्र करके, काय को संकोच कर, हाथ की अंजलि करके, अपने स्वरूप में लीन हुआ अथवा वंदना पाठ के अर्थ का चिंतवन करता हुआ, क्षेत्र का प्रमाण करके और समस्त सावद्य योग को छोड़कर जो श्रावक सामायिक करता है वह मुनि के समान है।

सामायिक व्रत का महत्त्व बताते हुये ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहते हैं—

''साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम्।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते॥''—ज्ञा./14/श्लोक

अर्थ— साम्य भाव से पदार्थों का विचार करने वाले बुद्धिमान् पुरुषों के जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञान साम्राज्य (केवलज्ञान) की समता को अवलम्बन करता है अर्थात् उसके समान है।

''शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम्।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः॥'' —ज्ञा./22/श्लोक20

अर्थ– इस साम्य के प्रभाव से अपने स्वार्थ में प्रवृत्त मुनि के निकट परस्पर वैर करने वाले क्रूर जीव भी साम्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

''क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः,
मुंचन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्।
रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते,
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न सद्यो भुवि॥''

–ज्ञा./224/श्लोक24

अर्थ– समभाव युक्त योगीश्वरों के प्रभाव से ग्रह यक्ष किन्नर मनुष्य ये सब क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं और इन्द्रगण हर्षित होते हैं। शत्रु, दैत्य, सिंह, अष्टापद, सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरता को छोड़ देते हैं, और यह जगत रोग, वैर, प्रतिबन्ध, विभ्रम, भय आदिक से रहित हो जाता है। इस पृथिवी में ऐसा कौन-सा कार्य है, जो योगीश्वरों के समभावों से साध्य न हो।

सामायिक चारित्र का लक्षण

''सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ।
सो सामाइय जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ॥'' –यो.सा./यो./99

अर्थ– समस्त जीव राशि को ज्ञानमयी जानते हुये उसमें समता भाव रखना अर्थात् सबको सिद्ध समान शुद्ध जानना। वह निश्चय से सामायिक है।

''रायरोस वि परिहरिविं जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइय जाणि फुडु केवलि एम भणेइ॥'' –यो.सा./यो./100

अर्थ– राग-द्वेष को छोड़कर जो समभाव होता है, वह निश्चय सामायिक है।

सामायिक संयत का लक्षण

''संगहिय सयलसंजम मेयजमणुत्तरं दुक्खगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइय संजदो होइ॥''

–पं.सं./प्रा./1/129

अर्थ– जिसमें सकल संयम संगृहीत होते हैं, ऐसे सर्व सावद्य के त्याग रूप एक मात्र अनुत्तर एवं दुःख गम्य अभेद संयम को धारण करना, सो सामायिक संयम है और उसे धारण करने वाला सामायिक संयत कहलाता है।

नियत व अनियतकाल सामायिक निर्देश

''सर्वस्य सावद्ययोगस्याभेदेन प्रत्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तमवधृतकालं वा सामायिकमित्याख्यायते।'' –रा.वा./9/18/2/616/28

अर्थ– सर्व सावद्य योगों का अभेद रूप से सार्वकालिक त्याग करना अनियतकाल सामायिक है और नियत समय तक त्याग करना सो नियतकाल सामायिक है।

''तद् द्विविधं नियतकालमनियतकालं च। स्वाध्यायपदं नियतकालम्। ईर्यापथाद्यनियतकालम्॥'' –स.सि./9/18/436/5

वह सामायिक चारित्र दो प्रकार का है– नियतकाल व अनियतकाल। स्वाध्याय आदि कृतिकर्म पूर्वक आसन आदि लगाकर पंचपरमेष्ठी आदि के स्वरूप का या निजात्मा का चिन्तवन करना सो नियतकाल सामायिक है। ईर्यापथ आदि अनियतकाल सामायिक है।

यद्यपि चारित्रसार ग्रन्थ में व्रत के प्रकरण में सामायिक के ये दो भेद किये हैं, पर वहाँ लक्षण नियतकाल सामायिक का ही दिया है, अनियतकाल सामायिक का नहीं। इसलिये दो भेद सामायिक चारित्र के ही हैं, सामायिकव्रत के नहीं, क्योंकि अभ्यस्त दशा में रहने के कारण गृहस्थ या अणुव्रती श्रावक सार्वकालिक समता या सर्व सावद्य से निवृत्ति करने को समर्थ नहीं है।

सामायिक चारित्र में संयम के सम्पूर्ण अंग समा जाते हैं

''आक्षिप्ताशेषरूपमिदं सामान्यमिति कुतोऽवसीयत इति चेत्सर्वसावद्य योगोपादानात् न ह्येकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते विरोधात्।स्वान्तर्भावितशेषसंयम-विशेषैकयमः सामायिक शुद्धि संयम इति यावत्।..... सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः।'' –ध.1/1,1,123/369/5

'सर्वसावद्ययोग' पद के ग्रहण करने से ही, यहाँ पर अपने सम्पूर्ण भेदों का संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है। यदि यहाँ पर संयम के किसी एक भेद की ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्द के प्रयोग करने में विरोध आता है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जिसने सम्पूर्ण संयम के भेदों (व्रत समिति गुप्ति आदि को) अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेद रूप से एक यम को धारण करने वाला जीव सामायिक शुद्धि संयत कहलाता है। उसी में दो तीन आदि भेद डालना छेदोपस्थापना चारित्र कहलाता है। सम्पूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम को ग्रहण करने वाला होने से यह द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

सामायिक शुद्धि संयम

''सर्वसावद्ययोगाद् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिक शुद्धि संयमो द्रव्यार्थिकत्वात्।''

''एक विधैकव्रतो मिथ्यादृष्टि: किं न स्यादिति चेन्न, आक्षिप्ताशेषविशेष सामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात्॥'' –ध.1/1,1,123/369/2

अर्थ– 'मैं सर्व सावद्ययोग से विरत हूँ'– इसप्रकार द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सकल सावद्ययोग के त्याग को सामायिक शुद्धि संयम कहते हैं।

सामायिक चारित्र व गुप्ति में अन्तर

''स्यादेतत् निवृत्तिपरत्वात् सामायिकस्य गुप्तिप्रसंग इति। तन्न, किं कारणम्। मानसप्रवृत्तिभावात्। अत्र मानसी प्रवृत्तिरस्ति निवृत्तिलक्षणत्वाद् गुप्तेरित्यस्ति भेद:।''

–रा.वा./9/18/3/617/1

अर्थ– निवृत्तिपरक होने के कारण सामायिक चारित्र के गुप्ति होने का प्रसंग आता है क्या? नहीं, क्योंकि सामायिक चारित्र में मानसी प्रवृत्ति का सद्भाव होता है, जबकि गुप्ति पूर्ण निवृत्तिरूप होती है। यह दोनों में भेद है।

सामायिक चारित्र व समिति में अन्तर

''स्यान्मतम्—यदि प्रवृत्तिरूपं सामायिकं समितिलक्षणं प्राप्तमिति; तन्न; किं कारणम्। तत्र यतस्य प्रवृत्त्युपदेशात्। सामायिके हि चारित्रे यतस्य समितिषु प्रवृत्तिरुपदिश्यते। अत: कार्यकारणभेदादस्ति विशेष:।''

अर्थ– यदि सामायिक प्रवृत्तिरूप है तो इसको समिति का लक्षण प्राप्त होता है क्या? नहीं, क्योंकि, सामायिक चारित्र में समर्थ व्यक्ति को ही समितियों में प्रवृत्ति का उपदेश है। अतः सामायिक चारित्र कारण है और समिति इसका कार्य।

❖❖

जिनोपदिष्ट शास्त्रों की माध्यम भाषायें

''पाइय भासा-रइया, मरहट्ठय-देसि-वण्णय-णिबद्धा।
सुद्धा सयलकहच्चिय, तावस-जिण-सत्थ-वाहिल्ला॥''

–(उद्योतनसूरि, 'कुवलयमालाकहा', अनुच्छेद 7, पद्य 11, पृष्ठ 6)

अर्थ– प्राकृतभाषा अर्थात् शौरसेनी प्राकृत में रचित, महाराष्ट्रीप्राकृत एवं देशी वर्णों (देश्यपदों) में निबद्ध समस्त कथायें शुद्ध अर्थात् निर्दोष ही हैं। जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट एवं तपस्वी आचार्यों के द्वारा प्रणीत शास्त्रों की माध्यमभाषायें भी ये ही हैं।

जैन समाज की एकता के पक्षधर आचार्य विद्यानन्द जी

—डॉ. अनिल कुमार जैन*

हमारे युग में आचार्य श्री विद्यानंदजी एक प्रसिद्ध प्रभावक जैन संत हुए हैं। जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये, जैसे– कुन्दकुन्द भारती संस्थान (दिल्ली) की स्थापना, महरौली दिल्ली में अहिंसा स्थल का निर्माण, इंदौर में गोम्मटगिरी की स्थापना, भगवान् महावीर के जन्मस्थान वासोकुंड (वैशाली) में विशाल मंदिर का निर्माण आध्यात्मिक जैन ग्रंथों का प्रचार-प्रसार, जन मंगल कलश प्रवर्तन, जैन प्रतीकों का प्रचार आदि। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण कार्य जिसे लोग अक्सर गौण कर देते हैं– वह है समाज की एकता के लिए किये गये उनके प्रयास। यदि हम पिछले पचास वर्षों में किसी एक आचार्य का नाम लेना चाहें जिसने सम्पूर्ण जैन समाज को एक मंच पर लाने का न सिर्फ प्रयास किया, बल्कि उस कार्य को करके भी दिखाया तो एकमात्र जो नाम दिमाग में आता है, वह है आचार्य श्री विद्यानन्दजी का। यदि हम उनके इस महान कार्य की अनदेखी कर देंगे तो शायद हम उनके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाएंगे। जैन समाज को संगठित बनाने के लिए उनकी अपनी एक सोच थी, एक विजन था। उनका मानना था कि यदि पूरा जैन समाज संगठित होकर कोई कार्य करेगा, तभी सफल होगा तथा उसका परिणाम भी कई गुना अधिक मिलेगा।

यदि हम सन् 1974 में आयोजित भगवान महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण महोत्सव की बात करें, तो यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं होगा कि उस कार्यक्रम के मुख्य सूत्रधार आचार्य श्री विद्यानन्दजी ही थे। उन्होंने उस समय के सभी जैन आम्नायों के प्रमुख आचार्यों से संपर्क किया तथा संयुक्तरूप से राष्ट्रीय स्तर पर महोत्सव को मनाने का निर्णय लिया। तेरापंथ आचार्य श्री तुलसी जी एवं मुनि श्री नथमलजी को (जो बाद में आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी हुये), स्थानकवासी आचार्य श्री सुशील

मुनि जी, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आचार्य श्री विजयसमुद्रसूरि जी एवं मुनि श्री जनकविजयजी, दिगम्बर आचार्य श्री धर्मसागरजी एवं आचार्य श्री देशभूषणजी आदि से गहन चर्चा की तथा एक बृहत् कार्य-योजना बनाई। सन् 1974 में पूरे देश में धर्मचक्र प्रवर्तन किया तथा जैन प्रतीकचिह्नों जैसे– तीन लोक का चित्र, पंचरंगी जैन ध्वज, अहिंसा और अनेकांत का प्रतीकचिह्न आदि का प्रचार किया। अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया। यह पिछले दो हजार वर्षों में पहरा अवसर था जब सभी जैनों ने मिलकर इस कार्य को सफल बनाया। इस महोत्सव से न सिर्फ भारत में बल्कि विदेशों में भी जैन धर्म का बहुत प्रचार हुआ। यह सब संभव हो पाया आचार्यश्री की सभी जैनों को साथ लेकर चलने की सोच के कारण।

आचार्य विनोबा भावे की भावना थी कि सभी प्रमुख धर्मों का अपना-अपना एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है लेकिन जैनों का एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो दिगम्बर-श्वेताम्बरों सभी का प्रतिनिधित्व करता हो। इस कार्य को करने के लिए एक धर्म-संगीति बुलाई गई जिसमें जैन धर्म के चारों सम्प्रदाय के प्रमुख संत एवं विद्वान् एकत्रित हुए। आचार्य श्री विद्यानन्दजी ने भी इस कार्य में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। सभी ने अपनी सहमति जताते हुए प्रसिद्ध विद्वान् एवं 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के रचयिता क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी जी को संकलन का कार्य सौंपा। फलतः नवम्बर 1974 में 'समणसुत्तं' नाम से ग्रन्थ की रचना पूर्ण हुई। इसको सभी सम्प्रदाय के आचार्यों एवं विद्वानों ने अपनी स्वीकृति दी।

आचार्य श्रीविद्यानन्दजी ने सन् 1988 में आचार्य कुन्दकुन्द का 2000वाँ जन्म महोत्सव मनाने का निर्णय लिया। इसके लिए भी उनका प्रयास यह रहा कि जैन समाज की सभी आम्नायों के लोग इसमें सम्मिलित हों। सन् 1987 में वे दिल्ली से दक्षिण की यात्रा पर जा रहे थे। यात्रा से पहले वे अणुव्रत भवन (दिल्ली) में गये तथा तेरापंथ आचार्य श्री तुलसी जी से मिले। वार्तालाप के दौरान उन्होंने अपनी भावना व्यक्त करते हुए उनके कहा कि 'आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्राब्दी' मना रहे हैं, उस समय आप 'समयसार' पर कुछ लिखें। उनकी इस भावना को आचार्य तुलसी जी ने स्वीकार कर लिया तथा युवाचार्य (आचार्य) महाप्रज्ञ जी को समयसार पर पुस्तक लिखने को कहा। आचार्य महाप्रज्ञ जी ने 'समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा' नाम से पुस्तक लिखी। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य श्री विद्यानन्दजी हर बड़े काम को सभी को साथ में लेकर करने के पक्षधर थे।

जैन आगमों की मूल भाषा प्राकृत रही है। आचार्यश्री की भावना थी कि इस भाषा का प्रचार होना चाहिये। उन्होंने अन्य लोगों के सहयोग से श्री लाल

बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में प्राकृत भाषा के विभिन्न पाठ्यक्रमों का संचालन करवाया। उनके इन प्रयासों से आज न केवल प्राकृत भाषा का प्रचार हो रहा है, बल्कि जैन आगम ग्रन्थों का भी प्रचार हो रहा है। इस कार्य में भी जैन एकता परिलक्षित होती है।

श्री कानजीस्वामी और उनकी कुछ मान्यताओं को लेकर दिगम्बर समाज में हमेशा से विवाद रहा है। आचार्य श्री विद्यानन्दजी भी उनकी अनेक मान्यताओं से असहमत थे, जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक 'दिगम्बर जैन साहित्य में विकार' में दर्शाया है। इसके बावजूद भी वे उनके अनुयायियों को सदा साथ में लेकर चलने के पक्षधर थे। वे कहते थे– "समाज को तोड़ो नहीं, जोड़ो", "कैंची नहीं, सुई बनो", "मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ"। मेरा मानना है कि उनकी इस भावना के पीछे उनका एक विजन था। उनको अच्छी तरह मालूम था कि जैन धर्म और समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए जैन समाज का संगठित रहना बहुत आवश्यक है।

आज हम सभी जानते हैं कि देश में मौजूद अनेक शक्तियाँ जैन धर्म के स्वतंत्र अस्तित्व को ही समाप्त कर देना चाहती है, यदि हम संगठित नहीं हुए तो निश्चित ही उनकी यह मंशा पूर्ण हो जाएगी। वैसे भी हम अल्पसंख्यक श्रेणी में तो हैं ही। अति-अल्पसंख्यक की श्रेणी में आने की कगार पर खड़े हैं। आज हमें आचार्य श्री विद्यानन्दजी जैसे आचार्यों और संतों की आवश्यकता है, जिनका विजन व्यापक हो, जो समाज को संगठित होने का उपदेश दें, जो समाज को जोड़ने का कार्य करें तथा सबको साथ लेकर चलें। उनके प्रयास ऐसे हों जिससे राष्ट्रीय स्तर पर हमारी एकता बनी रहे, भले ही व्यक्तिगत मान्यतायें अलग-अलग क्यों न हों। यदि ऐसा हो पाया तभी जैन समाज बचेगा और तभी जैन धर्म भी बच पायेगा। ❖❖

"देहज्योतिषि यस्य शक्र सहिता: सर्वेऽपि मग्ना: सुरा:।
ज्ञानज्योतिषि पञ्चतत्त्वसहितं मग्नं नभश्चाखिलम्॥"

–(आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, 64-55)

अर्थ– एक देह-ज्योति, दूसरी ज्ञान-ज्योति और तीसरी शब्द-ज्योति में इन्द्रसहित सब देवताओं को निमग्न बतलाया है, जो उनके समवसरण आदि को प्राप्त हुए हैं, और ज्ञान-ज्योति पंचतत्त्व (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश) सहित सारे लोक को व्याप्त प्रकट किया है। तीसरी शब्द-ज्योति अनुषंगिकता से लेना है।

जैन योग के बिना अधूरा है भारतीय योग

—डॉ. रुचि अनेकांत जैन*

उसहो जोगो उत्तं , पढमो करीअ आसणतवझाणं।
लहीअ सुद्धप्पं य, अप्पा मे संवरो जोगो॥

—(समणजोगविज्जा, 1)

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम योगविद्या का उपदेश दिया। उन्होंने सर्वप्रथम आसन, तप, ध्यान किया और शुद्ध आत्मा को प्राप्त किया और उपदेश दिया कि आत्मा ही संवर और योग है।

जैन परंपरा में ध्यान योग साधना प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से ही मानी जाती है। वे आदि योगी के रूप में हम सभी के समक्ष आते हैं। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा में जिन नग्न योगी की मूर्ति हमें प्राप्त हुई है उनका सम्बन्ध जितना तीर्थंकर ऋषभदेव से मेल खाता है उतना अन्य परंपरा के इष्ट देव से नहीं मिलता। इस बात का समर्थन करने वाले कई विद्वान हैं। यद्यपि बहुमत के अतिरेक में, अपने मत के प्रति आग्रहबुद्धि की प्रबलता के कारण तथा प्रचारबाहुल्य के कारण अधिकांश लोग यही मानते हैं कि वह मूर्ति शिव की है। किन्तु इस मान्यता पर पुनर्विचार अवश्य होना चाहिए। हम इस बात से भी पूरी तरह इन्कार नहीं कर सकते कि शिव भी मूलतः ऋषभ ही हैं, क्योंकि ऋषभदेव का समय प्राग्वैदिक सिद्ध हो चुका है। विद्वानों के द्वारा अनेक अनुसंधानों के बाद ऋषभ और शिव में काफी साम्यता भी सिद्ध की जा चुकी है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तक ध्यान योग साधना का क्रम निर्बाध गति से चलता रहा, उसके बाद जम्बू स्वामी तक भी ध्यान योग साधना अपने पूर्ण रूप को लिए हुए मुक्ति का साधन बनी हुई थी। उसके बाद साधना के क्रम में शारीरिक संहनन की निरंतर कमी के चलते परिवर्तन

*7ए, नन्दा अस्पताल के पीछे, छतरपुर एक्सटैंशन, नई दिल्ली-110074 ई-मेल : ruchijaintmu@gmail.com

प्रारंभ हो गए और प्रायोगिक ध्यान योग साधना की निरंतरता में कुछ कमी आने लगी, किन्तु सैद्धांतिक अवधारणा ज्यों की त्यों बनी रही। जैन परंपरा का आचारमीमांसा सम्बंधित जितना भी साहित्य है वह पूरा का पूरा प्रायोगिक योग है और द्रव्यानुयोग का साहित्य उसके दार्शनिक पक्ष के वर्णन में संलग्न है। एक प्रकार से मुक्ति की साधना की पूरी पद्धति योग ही है जिसमें भाव और क्रिया पक्ष दोनों की संयुति अनिवार्य है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जैन-बौद्ध और वैदिक साधना पद्धतियों ने सदा एक-दूसरे को प्रभावित किया है। सभी परम्पराओं ने एक-दूसरे की उन विशेषताओं को ग्रहण किया है जिनसे उनकी मूल साधना में कोई विघ्न न आये, बल्कि साधना अभ्यास अधिक परिष्कृत हो। यह तथ्य भी किसी से छिपा हुआ नहीं है कि पतंजलि का योग दर्शन आरम्भ की अवस्था में निरीश्वरवादी सांख्य था जो कालांतर में ईश्वरवादी होकर ईश्वर प्रणिधान की चर्चा करने लगा। श्रमण सांख्य को अपने से निकला हुआ एक अंग मानते हैं जो भिन्न मान्यता के कारण श्रमण से अलग हो गया था किन्तु उसके संस्कार वही थे। भारत में इस तरह के वैचारिक आदान-प्रदान की अपनी एक विशाल परंपरा रही है जिसने सभी मान्यताओं को समृद्धि प्रदान की है।

जैन परम्परा में ध्यान– योग जहाँ अर्धमागधी आगमकाल में शारीरिक एवं मानसिक तत्त्वों को प्रभावित करने वाला माना जाता था, वहीं बाद में यह केवल मानसिक एवं आत्मपरक हो गया। लगभग दसवीं शती तक समय के प्रभाव से और पतंजलि के योगदर्शन की प्रचुरता से इस विवरण में क्रियात्मक योग के तत्त्व पुनः समाहित हुए जिससे यह पुनः त्रिरूपात्मक हो गया। इससे इसकी व्यापकता बढ़ी। यद्यपि सभी भारतीय पद्धतियाँ ध्यान का चरम लक्ष्य एक ही मानती हैं, पर लौकिक जीवन से सम्बन्धित लक्ष्यों में विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं में विविधता पाई जाती है।

ध्यान-योग के शारीरिक एवं मानसिक प्रभावों के विषय में जैन आचार्यों ने अपने अनेक अनुभव और निरीक्षण भी बतलाये हैं। जिन पर अब भारत और विश्व के अनेक देशों में वैज्ञानिक शोध की जा रही है। अधिकांश लौकिक शास्त्रीय विवरण इस पद्धति से न केवल पुष्ट ही हुए हैं अपितु शरीर विज्ञान, रसायन, मनोविज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान के अध्येताओं ने इन विवरणों की अपने निरीक्षणों द्वारा सफल एवं प्रयोगसिद्ध व्याख्या की है। यही नहीं, अनेक निरीक्षणों से हमारे ध्यान-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के ज्ञान में भी तीक्ष्णता, यथार्थता और सूक्ष्मता आई है। यही कारण है कि इस युग में योग और ध्यान की प्रक्रिया हेतु अधिकारियों पर

लगे प्रतिबन्ध शनैः-शनैः स्वयं समाप्त होते जा रहे हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन का एक अंग बनता जा रहा है। इससे ध्यान के कुछ अलौकिक प्रभावों पर भी आस्था बढ़ रही है।

वर्तमान में ध्यान का लौकिक आधार अधिक व्याख्यायित हो रहा है, उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि मनुष्य कृत्रिम चिंताओं, तनावों, अवसादों, कुंठाओं से ज्यादा व्यथित है और उसके शारीरिक रोगों का यह सबसे बड़ा कारण है। बात इसलिए भी सही है कि समस्त संसार से विरक्त होकर, गार्हस्थ्य जीवन त्याग कर मोक्षमार्ग की साधना की घोषणा करने वाले कई साधु-संत भी अवसाद जैसी मानसिक बीमारियों की चपेट में हैं। ध्यानयोग मोक्ष का मार्ग है, किन्तु मोक्ष का पथिक यदि इस प्रकार से अस्वस्थ होगा तो उसकी साधना कैसे हो पायेगी? अतः ध्यान-योग की उन लौकिक विधियों को आज ज्यादा मान्यता मिल रही है जो मनुष्य को मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ्य बनाये रखने में कारगर हो। वर्तमान में जिन जैन ध्यान योग की प्रायोगिक पद्धतियों का विकास हो चला है वे साधकों को स्वस्थ बनाने पर ज्यादा जोर दे रही हैं। उनका अध्यात्म भी शारीरिक स्तर का है। यद्यपि मूल अवधारणा आज भी आत्मानुभूति की ही है, लेकिन प्रायोगिक रूप में वह भी शब्दजाल में बंधकर रह गयी है। वर्तमान में प्रचलित कुछ ध्यान योग की पद्धतियाँ युगचेतना से ज्यादा प्रभावित हैं। वर्तमान में जितने भी प्रमुख साधक आचार्य या संत हैं, उतने ही प्रकार की ध्यान साधना पद्धति अनेक प्रकार के नामों से चल रही है। यहाँ तक कि एक ही आचार्य संघ के अलग-अलग मुनि अलग-अलग नामों से योग ध्यान पद्धतियाँ संचालित कर रहे हैं। लेकिन उनका मूल उत्स आज भी वही है, मात्र संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न हैं। इनके एकीकरण का भी प्रयास होना चाहिए –यह एक विनम्र सुझाव मैं देना चाहती हूँ।

अंत में मैं एक निवेदन सम्पूर्ण जगत से यह भी करना चाहती हूँ कि आप जैन योग के इतिहास, अध्यात्म, दर्शन और प्रयोगों के योगदान को नजरअंदाज न करें। भारतवर्ष की यह एक अमूल्य धरोहर है। यदि इसकी उपेक्षा करके भारत की योगसाधना की बात की जाएगी तो वह अधूरी होगी। ❖❖

ईसाभावेण पुणो, केई णिंदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे॥ 186 ॥ –नियमसार

अर्थ– पुनः कई पुरुष ईर्ष्याभाव से सुन्दर मार्ग की निन्दा करते हैं। उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति मत करो।

जीवन की चार व्याधियाँ एवं उपचार

—डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा*

वर्तमान युग में मानव जीवन अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। समस्याएँ व्यक्तिगत, पारिवारिक या सामाजिक जीवन में सभी जगह विद्यमान हैं। वर्तमान में व्याप्त आतंकवाद, भ्रष्टाचार, जाति का संघर्ष, असहिष्णुता, अवसाद, ईर्ष्या, द्वेष, मान, माया, छल-कपट, क्रोध, लोभ बाह्य व आंतरिक सभी समस्याओं की मूल जड़ हैं। शांति की मांग अनादिकाल से रही है, पर आज के युग में जितनी तीव्र है, पहले नहीं थी। आज मनुष्य उतना ही अज्ञानी है, जितना पहले था। किसी विचारक ने कहा है कि मनुष्य के मरने पर मुझे उतना दुःख नहीं होता, जितना मनुष्यता के मरने पर होता है। जैन दर्शन में वर्णित चार कषाय को यदि समझने का प्रयास करें तो वर्तमान युग की पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान हो सकता है।

कसाय-संजुदं चित्तं, तच्चं जो अवगाहरे।
जहा णीलंबरे रत्ते, से अवण्णो ण रंजदि॥[1]

जो आत्मा को कसे, कर्मों में बांधे, उसे कषाय कहते हैं। कषायभाव से युक्त मन तत्त्व को नहीं समझता, न ही ग्रहण करता है। जैसे– नीले और लाल वस्त्र पर सफेद रंग नहीं चढ़ता है।

जैन साधना कषायों के विजय की साधना है। आचार्य हरिभद्र ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'कषायों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है (कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव)। कषाय जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में 'धम्मपद' (223) में और हिन्दू परम्परा में छान्दोग्योपनिषद् (7/26/2) तथा महाभारत के शांतिपर्व (244/3) में 'कषाय' शब्द का प्रयोग अशुभ चित्तवृत्तियों के अर्थ में हुआ है; किंतु जैन परम्परा में इस शब्द का प्रयोग प्रचुरता

*जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)

से देखा जाता है। जैन आचार्यों द्वारा इसकी व्युत्पत्तिपरक परिभाषाएँ अनेक दृष्टिकोणों से की गई हैं। सामान्यतया वे मनोवृत्तियाँ या मानसिक आवेग जो हमारी आत्मा को कलुषित करते हैं, हमारे आत्मीय सद्गुणों को कृष करते हैं, जिनसे आत्मा बन्धन में आती है और उसके संसार-परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण में वृद्धि होती है, उन्हें कषाय कहते हैं। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि "अनिगृहित क्रोध और मान तथा वृद्धिंगत माया तथा लोभ– ये चारों कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष का सिंचन करती हैं, दुख के कारण हैं, अतः समाधि के साधक उन्हें त्याग दें" ।[2] उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष को कर्म का बीज कहा गया है। राग-द्वेष के कारण ही कषायों का जन्म होता है।[3] स्थानांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पाप कर्म की उत्पत्ति के दो स्थान हैं– राग और द्वेष।[4] राग से लोभ का और लोभ से कपट का जन्म होता है। तथा द्वेष से क्रोध का और क्रोध से अहंकार का जन्म होता है। इस प्रकार कषायों की उत्पत्ति के मूल में राग-द्वेष की वृत्ति ही काम करती है। आचार्य तुलसी ने कषाय को परिभाषित करते हुए कहा– **रागद्वेषात्मकोत्तापः कषायः।**[5] यह भी सुनिश्चित है कि राग-द्वेष के मूल में भी राग ही प्रमुख तत्त्व है। राग की उपस्थिति में ही द्वेष का जन्म होता है। अतः संक्षेप में कहें तो सम्पूर्ण कषायों के मूल में राग या आसक्ति का तत्त्व ही प्रमुख है। वही कषायों का पिता है। राग-द्वेष से क्रोध, मान, माया और लोभ– इन चार कषायों का क्या संबंध है, इसकी विस्तृत चर्चा विशेषावश्यक भाष्य में विभिन्न नयों या अपेक्षाओं के आधार पर की गई है।

चार कषाय– आवेगों की अवस्थाएँ भी तीव्रता की दृष्टि से समान नहीं होती हैं, अतः तीव्र आवेगों को कषाय और मंद आवेगों या तीव्र आवेगों के प्रेरकों को नो-कषाय (उप-कषाय) कहा गया है। कषाय चार हैं– 1. क्रोध, 2. मान, 3. माया और 4. लोभ। आवेगात्मक अभिव्यक्तियों की तीव्रता के आधार पर इनमें से प्रत्येक को चार-चार भागों में बाँटा गया है– 1. तीव्रतम, 2. तीव्रतर, 3. तीव्र और 4. मंद। आध्यात्मिक दृष्टि से तीव्रतम क्रोध आदि व्यक्ति के सम्यक् दृष्टिकोण या विवेक में विकार ला देते हैं। तीव्रतर क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रण की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। तीव्रक्रोध आदि आत्मनियन्त्रण की शक्ति के उच्चतम विकास में बाधक होते हैं। मंद क्रोध आदि व्यक्ति को पूर्ण वीतराग नहीं होने देते।[6] चारों कषायों की तीव्रता के आधार पर चार-चार भेद हैं। अतः कषायों की संख्या 16 हो जाती है।[7]

क्रोध कषाय– यह एक मानसिक किन्तु उत्तेजक आवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है। उसकी विचार-क्षमता और तर्क-शक्ति लगभग

शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेग की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा से अमर्ष और अमर्ष से आक्रमण का भाव उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार क्रोध और भय में यही मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेग में आक्रमण का और भय के आवेग में आत्म-रक्षा का प्रयत्न होता है। जैन-दर्शन में सामान्यतया क्रोध के दो रूप मान्य हैं– 1. द्रव्य-क्रोध और 2. भाव-क्रोध[8]। द्रव्य-क्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रोध का आंगिक पक्ष कहा जा सकता है, जिसके कारण क्रोध में होनेवाले शारीरिक परिवर्तन होते हैं। भावक्रोध क्रोध की मानसिक अवस्था है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव-क्रोध है, जबकि क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक या शरीरात्मक पक्ष द्रव्य-क्रोध है। क्रोध के विभिन्न रूप हैं। भगवतीसूत्र में इसके दस समानार्थक नाम वर्णित हैं– 1. क्रोध– आवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था, 2. कोप– क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता, 3. दोष– स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना, 4. रोष– क्रोध का परिस्फुट रूप, 5. संज्वलन– जलन या ईर्ष्या की भावना, 6. अक्षमा– अपराध क्षमा न करना, 7. कलह– अनुचित भाषण करना, 8. चाण्डिक्य– उग्ररूप करना, 9. मंडन– हाथापाई करने पर उतारू होना, 10. विवाद– आक्षेपात्मक भाषण करना।

हिंसा का मूल क्रोध कषाय मनुष्य के लिये तो हानिकारक है ही, यह समाज व राष्ट्र के लिये भी घातक है। क्रोध में व्यक्ति मूढ़ हो जाता है; उसका विवेक खो जाता है। उचित-अनुचित कार्य में भेद नहीं कर पाता। 'ठाणं' में क्रोध-उत्पत्ति के 10 कारण बतलाए गये हैं। बढ़ती हुई हिंसा क्रोध का ही परिणाम है। क्रोध करने से अंदर ऐसे रसायनों का स्राव होता है जो शरीर के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं। क्रोध से मनुष्य की चिंतन-शक्ति क्षीण हो जाती है, संबंध खराब होते हैं व व्यक्ति की प्रतिष्ठा का नाश होता जाता है।

मान कषाय– मान का अर्थ अहंकार है। मनुष्य में अन्य गतिविधियों से अधिक 'मान' कषाय पाया जाता है। मान-क्रोध का भी संबंध है। जिसमें मान ज्यादा होता है, उसमें क्रोध ज्यादा होता है। यदि व्यक्ति सबको **आपतुले पयासु** अपनी आत्मा के समान मान ले, तो उसका व्यवहार बदलेगा और छोटे के प्रति भी समान स्नेह करेगा। अहंकार व्यक्ति को क्रूर बना देता है कि वही श्रेष्ठ है, उसका विचार ही श्रेष्ठ है, उसकी आज्ञा के विपरीत कोई भी कार्य उसे सहन नहीं होता है। कभी वह अवसाद-ग्रस्त होता है तो कभी वह अहंकार-ग्रस्त हो जाता है, क्योंकि वह बड़ों के आगे हीन भावना महसूस करता है व छोटों के सामने उच्चभावना से ग्रस्त हो जाता है।

अहंकार करना मान है। अहंकार जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, साधना, ज्ञान आदि

किसी भी विशेषता का हो सकता है। मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति होती है, परन्तु जब स्वाभिमान की वृत्ति दम्भ या प्रदर्शन का रूप ले लेती है, तब मनुष्य अपने गुणों एवं योग्यताओं का बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शन करता है और इस प्रकार उसके अन्तःकरण में मानवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता रहता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का गुणी व्यक्ति कोई दिखता ही नहीं।

जैन परम्परा में प्रकारान्तर से मान के आठ भेद मान्य हैं– 1. जाति मद, 2. कुल मद, 3. बल (शक्ति) मद, 4. ऐश्वर्य मद, 5. तप मद, 6. ज्ञान मद, 7. सौन्दर्य मद और 8. अधिकार (प्रभुता) मद। मान को मद भी कहा गया है।

मान निम्न बारह रूपों में प्रकट होता है–**1. मान**– अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति, **2. मद**– अहंभाव में तन्मयता, **3. दर्प**– उत्तेजनापूर्ण अहंभाव, **4. स्तम्भ–** अविनम्रता, **5. गर्व–** अहंकार, **6. अत्युक्रोश**– अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहना, **7. परपरिवाद**– परनिन्दा, **8. उत्कर्ष–** अपना ऐश्वर्य प्रकट करना, **9. अपकर्ष–** दूसरों को तुच्छ समझना, **10. उन्नतनाम–** गुणी के सामने भी न झुकना, **11. उन्नत–** दूसरों को तुच्छ समझना और**12. पुर्नाम–** यथोचित रूप से न झुकना।

माया कषाय– जिस मानव के मन में छल-कपट होता है, वह कथनी-करनी में भेद करता है, अपने अवगुणों को छिपाने का प्रयास करता है, बुरे कार्यों को छिपाने का प्रयास करता है। ये कषाय तीनों लोकों में मल के समान हैं। कुल और शील के शत्रु हैं। इसे दूर करना सबसे कठिन है। ये कपटाचार माया कषाय है। भगवतीसूत्र के अनुसार इसके पन्द्रह नाम हैं– **1. माया–** कपटाचार, **2. उपाधि–** ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना, **3. निकृति–** ठगने के अभिप्राय से अधिक सम्मान देना, **4. वलय–** वक्रता पूर्ण वचन, **5. गहन–** ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करना, **6. नूम–** ठगने के हेतु निकृष्ट कार्य करना, **7. कल्क–** दूसरों को हिंसा के लिए उभारना, **8. करूप–** निन्दित व्यवहार करना, **9. निहता–**ठगाई के लिए कार्य मन्द गति से करना, **10. किल्विषिक**– भांडों के समान कुचेष्टा करना, **11. आदरणता–** अनिच्छित कार्य भी अपनाना, **12. गूहनता–** अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना, **13. वंचकता–** ठगी और **14. प्रति-कुंचनता–** किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खण्डन करना, **15. सातियोग–** उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना। ये सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

लोभ कषाय– भौतिक विकास की दौड़, मनुष्य में होने वाली लोभ कषाय का प्रमुख कारण है। व्यक्ति आवश्यकतावश नहीं बल्कि लोभवश धन कमाने में चौबीसों

घंटे लगा हुआ है। वह तुलना करने के कारण स्वयं को दूसरों से आगे रखने की दौड़ में दिन-रात लगा हुआ है। लोभ के कारण ही वह दूसरों का अधिकार छीन कर स्वयं का परिग्रह बढ़ाता है। वह सोचता है, भौतिक पदार्थों से ही, धन से ही वह सुख प्राप्त कर सकता है। मोहनीय-कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएँ हैं– 1. **लोभ**– संग्रह करने की वृत्ति, **2. इच्छा**–अभिलाषा, **3. मूर्छा**– तीव्र संग्रह-वृत्ति, **4. कांक्षा**–प्राप्त करने की आशा, **5. गृद्धि**– आसक्ति, **6. तृष्णा**– जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति, **7. मिथ्या**– विषयों का ध्यान, **8. अभिध्या**– निश्चय से डिग जाना या चंचलता, **9. आशंसना**– इष्ट-प्राप्ति की इच्छा करना, **10. प्रार्थना**– अर्थ आदि की याचना, **11. लोलपनता**– चाटुकारिता, **12. कामाषा**– काम की इच्छा, **13. भोगाषा**– भोग्य-पदार्थों की इच्छा, **14. जीविताषा**– जीवन की कामना, **15. मरणाषा**– मरने की कामना और **16. नन्दिराग**– प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

नोकषाय– नोकषाय शब्द दो शब्दों के योग से बना है— नो+कषाय। जैन-दार्शनिकों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है। इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ– इन प्रधान कषायों के सहचारी भावों अथवा उनकी सहयोगी मनोवृत्तियाँ जैन परिभाषा में नोकषाय कही जाती हैं। जहाँ पाश्चात्य मनोविज्ञान में काम-वासना को प्रमुख मूलवृत्ति तथा भय को प्रमुख आवेग माना गया है, वहाँ जैनदर्शन में उन्हें सहचारी कषाय या उप-आवेग कहा गया है। इसका कारण यही हो सकता है कि जहाँ पाश्चात्य विचारकों ने उन पर मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है, वहाँ जैन विचारणा में जो मानसिक तथ्य नैतिक दृष्टि से अधिक अशुभ थे, उन्हें कषाय कहा गया है और उनके सहचारी अथवा कारक मनोभाव को नोकषाय कहा गया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर नोकषाय वे प्राथमिक स्थितियाँ हैं, जिनसे कषायें उत्पन्न होती हैं, तथापि आवेगों की तीव्रता की दृष्टि से नोकषाय कम तीव्र होते हैं और कषायें अधिक तीव्र होती हैं। इन्हें कषाय का कारण भी कहा जा सकता है। जैन-ग्रन्थों में इनकी संख्या 9 मानी गई है। चार मूल कषायों के अतिरिक्त 9 नोकषाय भी ईषत् रूप में मनुष्य में विद्यमान रहते हैं– हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद। जो मनुष्य चार मूल कषायों एवं ईषत् कषायों से युक्त होता है वह हित-अहित नहीं जान सकता। आचार्य सुनीलसागरजी कहते हैं–

कोह-माणादि-संजुत्तो, माया-लोह-विडंविदो।
स हिदं णेव जाणदि, जिणदेवेण भासिदं॥[9]

जैन आचार-दर्शन के अनुसार आवेगों और उप-आवेगों का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से है। नैतिक जीवन के लिए इन वासनाओं एवं आवेगों से ऊपर उठना आवश्यक है। जब तक व्यक्ति इनसे ऊपर नहीं उठता है, वह नैतिक प्रगति नहीं कर सकता। गुणस्थान आरोहण में यह तथ्य स्पष्ट रूप से वर्णित है कि नैतिक विकास की किस अवस्था में कितनी कषायों का क्षय हो जाता है और कितनी शेष रहती हैं। नैतिकता की सर्वोच्च भूमिका समस्त कषायों के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है।

कषाय के परिणाम

1. आवेश (क्रोध) की मनोवृत्ति के परिणाम– गाली-गलौज, युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या।
2. गर्व (अपने को बड़ा मानने) की मनोवृत्ति के परिणाम–घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार।
3. माया (छिपाने) की मनोवृत्ति के परिणाम– अविश्वास, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार।
4. संग्रह (लोभ) की मनोवृत्ति के परिणाम– शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात।

कषाय जय के परिणाम

1. शान्ति की मनोवृत्ति के परिणाम– वाक्-संयम, अनाक्रमण, समझौता, समन्वय।
2. समानता की मनोवृत्ति के परिणाम– सापेक्ष-व्यवहार, प्रेम, दुर्व्यवहार।
3. ऋजुता की मनोवृत्ति के परिणाम– मैत्रीपूर्ण व्यवहार, विश्वास।
4. त्याग (विसर्जन) की मनोवृत्ति के परिणाम– प्रामाणिकता, सापेक्ष व्यवहार, अशोषण।

अतः आवश्यक है कि सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिए प्रथम प्रकार की वृत्तियों का त्याग कर जीवन में दूसरे प्रकार की वृत्तियों को स्थान दिया जाये। वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से कषाय-जय आवश्यक है।

प्रश्न यह है कि मानसिक आवेगों (कषायों) पर विजय कैसे प्राप्त की जाये? पहली बात यह कि तीव्र कषायोदय में तो विवेक-बुद्धि प्रसुप्त ही हो जाती है, अतः विवेक-बुद्धि से कषायों का निग्रहण सम्भव नहीं रह जाता। दूसरे इच्छापूर्वक भी उनका निरोध सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा तो स्वतः उनसे ही शासित होने लगी हैं। पाश्चात्य दार्शनिक Lihukstk (Spinoza) के अनुसार आवेगों का नियंत्रण संकल्पों से भी संभव नहीं, क्योंकि संकल्प तो आवेगात्मक स्वभाव के आधार पर

ही बनते हैं और उसके ही एक अंग होते हैं। तीसरे, आवेगों का निरोध भी मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर माना गया है और उनकी किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक मानी गयी है। तीव्र आवेगों के निरोध के लिए तो एक ही मार्ग है कि उन्हें उनके विरोधी आवेगों द्वारा शिथिल किया जाये। स्पीनोजा की मान्यता यही है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक शक्तिशाली आवेग के द्वारा ही नियंत्रित या समाप्त किया जा सकता है। जैन एवं अन्य भारतीय चिन्तकों ने भी इस सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण अपनाया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।

धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि जीवन जीने की सही कला सिखाने का माध्यम है। धर्म एक आदर्श जीवनशैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है, शांति प्राप्त करने की विमल विद्या है तथा सर्वजन कल्याणी आचार-संहिता है।

आत्मविकास एवं आत्मपूर्णता– आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः[10]। अध्यात्म ही एक मात्र समाधान है जो हमारी आंतरिक एवं बाह्य समस्याओं का समाधान कर सकता है। अतः आचार्य सुनीलसागरजी कहते हैं–

धम्मज्झाणं धणं जेसिं, सहलं तेसिं जीविदं।
धम्मज्झाणादु हीणाणं, किं धणेणं च आउसा॥[11]

अर्थात् धर्मध्यान ही सर्वश्रेष्ठ है। जो सभी कषायों को छोड़कर धर्मध्यान करता है, उसका ही जीवन सफल हो सकता है। तथा–

सो कोई परमाणंदो, अप्पझाणेण होदि हि।
जेण णासेदि कम्माणि, सेट्ठं सुहं च जायदे॥[12]

किसी भी समस्या का समाधान बाह्य चिकित्सा से नहीं होता, उसके लिये रोग की जड़ या मूल में जाना होगा। हमारी बाह्य एवं आंतरिक दोनों प्रकार की समस्याओं का मूल कारण कषाय है। क्रोध, मान, माया, लोभ न केवल हमारे व्यक्तित्व के लिए हानिकारक हैं, अपितु बाह्य व्यवहार में भी घातक परिणाम देने वाले हैं। वर्तमान की समस्याओं से सब भलीभांति परिचित हैं। ये सभी परिवार, समाज एवं राष्ट्र के लिये हानिकारक हैं और आत्मा के गुणों का घात भी करते हैं।

समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब हम रोग के मूल राग-द्वेष-मोह को सही रूप में पहचाने व आत्मस्वभाव में स्थित हों। गीता में भी स्थितप्रज्ञता की एवं निष्काम कर्म की बात कही गई है। सब कुछ व्यवहार निभाते हुये यदि

हम अनासक्त चेतना का विकास करें व आत्मस्वरूप में विश्वास करें तो बाह्य एवं आंतरिक दोनों व्याधियों का समाधान किया जा सकता है।

संदर्भ-सूची

1. भावणासारो, गाथा 45
2. कोहो य माणो य अणिग्गहिया, माया य लोभो य पवड्ढमाणो।
   चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स।। —उत्तरज्झयणाणि,
3. रागो य दोसो बीय कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति। —उत्तरज्झयणाणि, 32.7
4. पेज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया, ठाणं, 2/35
5. जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/22
6. तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, पृ. 47
7. भगवई, 12/5/2
8. गोम्मटसार, कषायमार्गाधिकार, श्लोक 282, 473
9. वही, श्लोक 283, पृ. 474
10. वही, श्लोक 284, पृ. 476
11. भावणासारो; गाथा 50
12. वही, गाथा 51

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

ठाणं, वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, संपा. मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 1976
गोम्मटसार, (जीवकाण्ड) नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1944
जैन सिद्धान्त दीपिका, आचार्य तुलसी, आदर्श साहित्य संघ चूरू, 1982
सुनील प्राकृत समग्र, आचार्य सुनीलसागर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2016
पहला सुख निरोगी काया, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 2003
पथ चुनें पर कौन-सा, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 2014
महावीर का पुनर्जन्म, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 2000 ❖❖

ध्यानरत-साधु

''ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददाति दीक्षादिकञ्च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः॥''

—(क्रियाकलाप ।। 5।। पृष्ठ 143)

अर्थ— जो मुनि न व्याख्यान देते हैं, न ही शास्त्र-रचना करते हैं, और न ही शिष्यों को दीक्षा आदि देते हैं; ऐसे कर्मों के विनाश में समर्थ ध्यानलीन (ज्ञानध्यानतपोरक्ता) पुरुषों को 'साधु' जानना चाहिये।

आधुनिक भाषाओं के विकास में प्राकृत का योगदान

—डॉ. ज्योतिबाबू जैन*

जो समस्त स्त्री-पुरुषों की व्याकरण आदि के संस्कार से रहित स्वाभाविक बोलचाल की क्रिया है, उसे प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति से उत्पन्न हुई अथवा उस प्रकृतिरूप ही जो भाषा है वह प्राकृत भाषा है। प्राकृत भाषा जनसाधारण की भाषा के रूप में प्राचीन समय से ही विकास को प्राप्त होती रही है। भगवान महावीर और बुद्ध ने इसी जनभाषा प्राकृत में उपदेश देकर सामान्य जन के लिए विकास का मार्ग प्रशस्त किया और जीवन के उच्चतम मूल्यों को जनभाषा में प्रस्तुत कर जनतान्त्रिक दृष्टि प्रदान की।

प्राकृत भाषा भारतीय आर्य परिवार की एक सुसमृद्ध लोकभाषा रही है। वैदिक काल से ही यह लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही है। इसका विपुल साहित्य इसकी गौरवमयी गाथा कहने में समर्थ है। भारतीय लोकजीवन के बहुआयामी पक्ष तथा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परम्परायें प्राकृत-साहित्य में निहित है।

यह प्राकृत भाषा विभिन्न प्रान्तों तथा देशों के अनुसार कुछ परिवर्तित होती हुई, मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, आवन्ती आदि नामों से प्रसिद्ध हुई। जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखाएं होती हैं, उसी तरह एक ही प्राकृत भाषा के विभिन्न देशों के अनुसार उसके नाम विभिन्न पड़ गये और उसके रूप तथा उच्चारण में भी कुछ थोड़ा अन्तर आ गया। आधुनिक आर्य भाषा परिवार की जननी प्राकृत भाषा है। प्राकृत भाषा को जाने विना आधुनिक भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है।

*सहायक आचार्य, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय उदयपुर (राजस्थान), मोबाईल : 9414234793

प्राकृत के भेद

उस प्राकृत भाषा का रूप कालान्तर में विभिन्न देशों के अनुसार अनेक प्रकार का बन गया। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत के 7 भेद गिनाये हैं– 1. मागधी, 2. आवन्ती, 3. प्राच्या, 4. शूरसेनी, 5. अर्द्धमागधी, 6. वाल्हीकी, 7. दाक्षिणात्य। पं. वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में उसके चार भेद कहलाये हैं– 1. शौरसेनी, 2. मागधी, 3. पैशाची, 4. महाराष्ट्री। मार्कण्डेय ने प्राकृत सर्वस्व में मूलभेद चार और अवान्तर भेद 16 माने हैं– 1. भाषा, 2. विभाषा, 3. अपभ्रंश, 4. पैशाची। 16 अवान्तर भेद हैं– 1. महाराष्ट्री, 2. शौरसेनी, 3. प्राची, 4. आवन्ती, 5. मागधी, 6. शकारी, 7. चांडाली, 8. शाबरी, 9. आभीरिका, 10. टाक्की, 11. नागर, 12. ब्राचड, 13. उपनागर, 14. कैकय, 15. शौरसेनी, 16. पांचाल।[1]

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में विभिन्न प्राकृतों के साथ अर्धमागधी शौरसैनी के प्रयोग अभिनय के अतिप्राचीन काव्य नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हैं। विश्व पर्यटन केन्द्र भुवनेश्वर के हाथी गुफा शिलालेख में अपने देश भारतवर्ष का नाम 'भरध-वस' सर्वप्राचीन शिलालेखीय प्रमाण ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रमाण के रूप में है, जिसके आधार पर ही भारत का संवैधानिक नाम भारतवर्ष रखा गया है।

प्राकृत भाषा में नाट्यशास्त्र, शिलालेखीय साहित्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक साहित्य के विपुल भंडार अद्यावधि उपलब्ध हैं प्राचीन प्राकृत भाषा ही अपभ्रंश भाषा के रूप में विकसित होती हुई प्रादेशिक भाषाओं एवं हिन्दी का स्रोत बनी। आठवीं शताब्दी के विद्वान वाकपतिराज ने 'गउडवहो' महाकाव्य में प्राकृत भाषा की सागर से तुलना करते हुए लिखा है–

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइ॥93॥

जिस प्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्प रूप से बाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भाषा में सब भाषायें प्रवेश करती हैं और निकलती हैं।

यही कारण है कि हजारों वर्षों तक भारतीय जनता को प्राकृत-शब्दकोश की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ी। यह निश्चित है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत के शब्दकोशों की रचना बहुत बाद में हुई। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि लोक भाषा के लिए किसी व्याकरण या कोश आवश्यकता नहीं पड़ती। प्राकृत के जिन प्राचीनतम शब्दकोशों के आलेख मिलते हैं उनमें अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम स्मरणीय हैं। उपलब्ध प्राकृत

कोशों में महाकवि धनपाल कृत 'पाइअलच्छीनाममाला' प्रथम कोशग्रन्थ है। यह दसवीं शताब्दी की रचना है। इस कोश में वास्तव में परम्परा से प्राप्त जो भी शब्द प्रचलित थे उनका संग्रह मात्र सरलता से किया गया है, अतएव आज भी हमारी बोलचाल के बहुत से शब्द इस कोश में ज्यों के त्यों मिलते हैं।[2] उदाहरण के लिए– दहिज (दही), मक्खा (मूर्ख), कुंपल (कोंपल), ओली (अवली), मंडुक्का (मेंढक), विरालीओ (विल्ली), खाईआ (खाई), लंचा (लांच घूस), मामी (मामी), गुंद (गोद)[3]।

वास्तविकता यह है कि चाहे वह संस्कृत के शब्द हों या प्राकृत की गाथाएँ, दोहे हों अथवा गीतियां उनकी प्राकृत इतनी सरल या संस्कृत-मिश्रित रही है जिसका अर्थ जानने के लिए किसी प्राकृतकोश की आवश्यकता नहीं थी। उदाहरण–

विभवेण जो न भुल्लइ, जो न वियारं करेइ तारुन्ने।
सो देवाण वि पुज्जो, किमंग पुण मणुयलोयस्स॥

–(नागपंचमी कहा)

जो वैभव में भूल नहीं जाता, और जिसे तारुण्ण में विकार नहीं होता, वह देवताओं का भी पूज्य होता है, फिर मनुष्य लोक का तो कहना ही क्या।

भारतीय आर्य भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए एक विशिष्ट कोश देशीनाममाला है। मूल शब्दकोश प्राकृत में हैं। जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पादित हैं और न संस्कृत में निबद्ध हैं तथा लक्षणा शक्ति में जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, उन (देशी) शब्दों का संकलन इस कोश में किया गया है।

जो शब्द प्राकृत के अनुसार प्रकृति, प्रत्यय आदि विभाग से सिद्ध नहीं होते और संस्कृत के कोशों में जिनकी प्रसिद्धि नहीं है तथा लक्षणा शक्ति से भी जिनका अर्थ वाच्य नहीं है वे देशी शब्द कहे जाते हैं। ये देशी शब्द प्रादेशिक भाषाओं में प्रसिद्ध रहे हैं, जो अनंत (असंख्यात) हैं, जिनका संकलन संभव नहीं है। ये अनादि काल से प्रवृत्त तथा प्राकृत भाषा में विशेष रूप से प्रचलित देशी शब्द हैं।

वास्तव में देशी शब्द प्रचलित मुद्रा के समान देशी सिक्के हैं, जो समय-समय पर चलन से बाहर होते रहे हैं। किन्तु कुछ-न-कुछ शब्द बराबर प्रत्येक भाषा में प्रचलन में रहे हैं, जिन्हें आज हम देशी शब्द के रूप में जानते हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं और इनकी बोलियों में पाये जाने वाले अनेक शब्दों का सीधा संबंध इन देशी शब्दों में देखा जा सकता है–

छाण– गोबर (देशी) छाणि (तमिल) छाण (गुजराती), में गोबर से बने कंडे

को छेणा कहा जाता है जो छाण से विकसित है। अपभ्रंश महापुराण में छाण शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में प्राप्त होता है। –(महा. पु. 57,10,11)

अक्का– भगिनी (देशी), प्राकृत-अपभ्रंश में अक्क और अक्का शब्द मिलते हैं जिनका अर्थ माता और ज्येष्ठ भगिनी दोनों है।

तण्णाय– गीला (देशी), यह प्राकृत अपभ्रंश में मिलता है। वैसे यह भी द्रविड शब्द माना जाता है। कन्नड़ में तण्ण शब्द का अर्थ ठंडा है।

तलार– कोतवाल (देशी), प्राकृत, अपभ्रंश और द्रविड भाषाओं में तलार और तलवर दोंनों शब्द उपलब्ध होते हैं। कन्नड़ में यह तलवार शब्द है जिसका अर्थ है नगररक्षक। अपभ्रंश महापुराण में तलवर शब्द का प्रयोग मिलता है।[4]

आधुनिक आर्यभाषाओं और उनकी बोलियों में आज भी घर में, खलियान में, वर्ग विशेष में ऐसे देशी शब्दों का चलन है जिनका विकास प्राकृत तथा इन देशी शब्दों से हुआ है। डॉ. हरिहर प्रसाद गुप्त ने देशी नाममाला में ऐसे सैकड़ों शब्दों का विवरण दिया है जो कृषि जीवन में प्रचलित हैं जिनको देशी कहा गया।

डॉ. आल्सफोर्ड के अनुसार भारतीय आर्यभाषा की सबसे प्राचीनतम अवस्था वैदिक ऋचाओं में परिलक्षित होती है। कई प्रकार की प्रवृत्तियों तथा भाषागत स्तरों के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि बोली ही विकसित होकर संस्कृत-काव्यों की भाषा के रूप में प्रयुक्त हुई। अतएव उसमें ध्वनि-प्रक्रिया तथा अन्य अनेक शब्द बोलियों के लक्षित होते हैं। शास्त्रीय संस्कृत का विकास काल चौथी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक रहा है, किन्तु उन पर प्राकृतों का प्रभाव निःसन्देह रूप से है।[5]

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में प्राकृतों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। प्राकृतों के भाषासम्बन्धी सर्वेक्षण के लिए सर्वप्रथम हम जैन आगमों की प्राकृत के कुछ शब्दों के आधार पर आधुनिक भाषाओं तथा बोलियों के शब्दों के साथ इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं–

ढक्कण– इस शब्द का प्रयोग बृहत्कल्पभाष्य में किया गया है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में ढकनुं, ढकना, ढक्कन आदि प्रयोग मिलते हैं।

बप्प– यह शब्द दशवैकालिक में मिलता है जिसका अर्थ बाप है। आधुनिक आर्य भाषाओं में इसका सीधा सम्बन्ध है।

छत्त– यह शब्द भी दशवैकालिक में मिलता है। इसका अर्थ छत्ता है। यह देशी शब्द प्रतीत होता है। इसी से हिन्दी में छाता तथा छत्ता शब्द प्रचलित हैं।

भारतीय आधुनिक भाषाओं का जन्म उन विभिन्न लोक भाषाओं से हुआ है,

जो प्राकृत व अपभ्रंश से प्रभावित थी। उनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत है–

प्राकृत भाषा और राजस्थानी भाषा सम्बन्ध-

प्राकृत	राजस्थानी	अर्थ
घडइ	घडै	बनाता है।
जाँचइ	जांचै	मांगता है।
धारइ	धारै	धारता है।
पूरइ	पूरै	पूरा करता है।
किदौ	कीधौ	किया।
होसइ	होसी	होगा।

प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी भाषा सम्बन्ध-

प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी
अप्पा	आत्मा	आत्मा
पिआ	पितृ	पिता
कम्म	कर्म	काम
कज्ज	कार्य	काज
अज्ज	अद्य	आज
चक्का	चक्र	चाक

प्राकृत और गुजराती भाषा के कुछ समान शब्द-

प्राकृत	गुजराती	अर्थ
अँगोहलि	अंधोल	शरीर का स्नान
ओइल्ल	ओलबु	ओढ़नी
उण्डा	उण्डा	गहरा
कटु	काठु	बदनाम

प्राकृत और मैथिली भाषा के कुछ समान शब्द-

प्राकृत	मैथिली	अर्थ
कचहरिअ	कचहरी	कचहरी
सुणइ	सून्तव	सुनता है
लोहाल	लोहार	लोहार

प्राकृत और उड़िया भाषा के कुछ समान शब्द-

प्राकृत	उड़िया	अर्थ
मुह	मुह	मुख
सही	सही	सखी
नाह	नाह	नाथ
वहु	वहु	वधु

प्राकृत और मराठी भाषा के कुछ समान शब्द-

प्राकृत	मराठी	अर्थ
अणिय	अणिया	अग्र भाग
उन्दर	उन्दीर	चूहा
गार	गार	पत्थर
तक्क	ताक	मट्ठा

बुन्देली भाषा में हजारों ऐसे शब्द हैं जो व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्राकृत से सम्बद्ध हैं और इनका विकास निश्चित रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से हुआ है। उदाहरण के लिए प्राकृत के ऊसय शब्द से बुन्देली का उसीसो (तकिया) शब्द विकसित हुआ है। इसी प्रकार प्राकृत के ओसरिआ शब्द से बुन्देली उसारी विकसित हुआ।[6]

प्राकृत से विकसित बुन्देली भाषा के कुछ शब्द-

प्राकृत	बुन्देली	प्राकृत	बुन्देली
कदुइया	कदुआ	खट्टिक	खटीक
चोट्टिया	चुटैया	छुरिया	छुई
झूर	झुरैया	जड्ड	जड्ड
झख	झख	टंका	टांक
निराय	निराट	दारिया	दारी
घम्म	घाम	डोक्करी	डुकरिया

इसके अतिरिक्त बुन्देली में छुहारा को खारक कहते हैं जो प्राकृत के खारिक्क शब्द से विकसित है। पशु के लिए ढोर शब्द बुन्देली के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्रचलित है जो मूल में प्राकृत है।

प्राकृत और बुन्देली भाषा के कुछ समान शब्द-

प्राकृत	बुन्देली	अर्थ
पग्गल	पग्गल	पागल
चंगेड़ा	चंगेरी	डलिया
चुल्लि	चूला	चूल्हा
छेलि	छिरियाँ	बकरी
लडह	लाड	रमणीय
चिल्ल	चील	चील
लड्डुक	लडुआ	लड्डू

प्राकृत से विकसित हिन्दी के कुछ समान शब्द-

अनेक शब्द प्राकृत से सीधे ही हिन्दी में विकसित हुये हैं। यथा– लुल्ल–लूला, घुग्घुरू–घुंघरू, ढंख–ढाक, समोसिय–समोसा, लुट्ट–लूट, लुट्टार–लुटेरा, गयार–गंवार, चिंक–छींक, फेणिय–फेनी, कच्चोल–कचोला, कट्टोरग–कटोरा, गड्ड–गाडी, खोर–खोर, कच्चरा–कचरा।

इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जो ठेठ प्राकृत तथा अपभ्रंश में ही मिलते हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्दों का उल्लेख इस प्रकार है–

बड्डा–बडा, झमाल–झमेला, चोक्ख–चोखा, गोव्वर–गोबर, कोइला–कोयला, उक्खल–ओखली, गूडर–गूदड, खज्जा–खाजा, टोप्प–टोपी, वइंगण–बैगन, डल्ल –डाल, ठक्कुर–ठाकुर, बेड–बेडा।

इस प्रकार अपभ्रंश में भी अनेक देशी शब्द मिलते हैं जो वर्तमान जनबोलियों में परम्परा से अधिगृहीत हुए हैं।[7]

भारतीय भाषाओं में समान रूप से प्रचलित शब्द-

प्राकृत	हिन्दी	पंजाबी	उर्दू	सिन्धी	मराठी	गुजराती	बंगला	ओडिया	बुन्देली
गल्ल	गला	गला	गला	गल्ला	गला	गलु	गॉला	गालं	गरौ
पोट्ट	पेट	पेट्		पेटु	पोट्	पेट	पेट	पेट	पेट
हड्डिय	हड्डी	हड्डी	हडी	हड्डो	हाड	हाडकुं	हाड	हाड्	हड्डी
दहि	दही	दहीं	दहीं	द्रही	दहीं	दहीं	दइ	दहि	दइ
चाउल	चावल	चावल	चावल	चाँवँर	भात	भात	भात		भात
टक्कारी	तरकारी	तरकारी	तरकारी				तरकारी		तरकारी
चोरू	चोर	चोर	चोर	चोरू	चोर	चोर	चोर	चोर	चोर
पाणिअ	पानी	पाणी	पानी	पाणी	पाणी	पाणी	जल	पाणि	पानी

इस विकास-परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन श्रमसाध्य ही नहीं, असंभव भी है, अतएव अल्प अध्ययन से संकेत मात्र ही प्रस्तुत कर सका हूँ। परन्तु यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि प्राकृत एवं अपभ्रंश के विविध भाषिक रूपों से ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विविध रूपों का विकास हुआ है।

प्राकृत भाषा और साहित्य की लगभग ढ़ाई हजार वर्षों की सुदीर्घ परंपरा है। इस अवधि में प्राकृत भाषा ने देश की प्रायः सभी भाषाओं को समृद्धि प्रदान की है। पालि, अपभ्रंश और संस्कृत के साथ प्राकृत का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। आधुनिक भाषाओं के विकास के साथ भी प्राकृत भाषा जुड़ी हुई है। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री एवं मागधी आदि प्राकृत की प्रमुख भाषाएँ हैं। इनका अपना साहित्य एवं भाषा की अपनी विशेषताएँ हैं। उनको जानने-समझने से हम भारतीय भाषाओं की सम्पदा से परिचित हो सकते हैं। भारतीय भाषाओं के सम्यक् अनुसंधान के लिए प्राकृत भाषा का अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

प्राकृत योरोपीय भाषा परिवार की भारतीय आर्य शाखा की प्राचीनतम और अन्यतम भाषा है। वैदिक काल में वह एक जनबोली थी जो क्रमशः विकसित होती हुई पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के सोपानों को पार करते हुए आधुनिक आर्य भाषाओं के विविध रूपों में प्रतिष्ठित हुई। भाषाविज्ञान के आधार पर यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि वर्तमान जनबोलियों का सीधा संबंध प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं से अधिक है।

संदर्भ

1. शास्त्री नेमिचन्द्र, प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
2. कवि धनपाल, पाइयलच्छीनाममाला, अन्तिम प्रशस्ति
3. पाइयलच्छीनाममाला, 274
4. महाकवि पुष्पदन्त कृत महापुराण 3,14,11
5. ऑल्सडोर्फ, लुडविग, 'दि ओरिजन ऑफ दि न्यू इण्डो अर्यन स्पीचेज' दिसम्बर 1960 पृष्ठ 132-33
6. शास्त्री डॉ. देवेन्द्र कुमार, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश की अनुपूर्वी में कोश साहित्य, आलेख 1993
7. शास्त्री डॉ. देवेन्द्र कुमार, 'कन्ट्रीब्युशन ऑफ अपभ्रंश टू इण्डियन लैंग्वेजेज, कन्ट्रीव्युशन ऑफ जैनिज्म टू इण्डियन कल्चर' प्रकाशन 1975, पृ. 76 ❖❖

'अहर्निश पठनपाठनादिना जिनमुद्रा भवति'। –(बोधपाहुड, गाथा 19 टीका)

अर्थ– दिन-रात पढ़ने और पढ़ाने से 'जिनमुद्रा' की प्राप्ति होती है।

वैयाकरणों की प्राकृत

—गणेश तिवारी*

1.1 प्राकृत भाषाएँ

'प्राकृत' शब्द हमारे प्राचीन वैयाकरणों और साहित्यिक समालोचकों द्वारा अनेक भाषाओं एवं बोलियों के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है, जिसके साक्ष्य के रूप में ईसा पूर्व लगभग पाँचवीं शती से ग्यारहवीं शती तक लौकिक और धार्मिक साहित्य पाए जाते हैं।[1] संस्कृत के लोकव्यवहार से बाह्य हो जाने के बाद भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न लोकभाषाओं का समय आ गया। परवर्ती काल में उन सभी लोकभाषाओं को समष्टिरूप में प्राकृत अभिधान मिला। सभी प्राकृतों का मूल संस्कृत होने के कारण उनमें संस्कृत से समानता तो थी ही और साथ में क्षेत्रीय तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण कुछ भिन्नता भी आ गई। प्राकृत भाषाओं में समानता अधिक है, भिन्नता न्यून है। इस शोधपत्र में मुख्यतः प्राकृत वैयाकरणों द्वारा विवेचित प्राकृतों की चर्चा की गई है जो निम्न हैं–

महाराष्ट्री

प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने प्राकृतों के अन्तर्गत मुख्य रूप से जिस भाषा को आधार बनाकर अपने ग्रन्थों का निर्माण किया है वह महाराष्ट्री है। सामान्यतः महाराष्ट्र में बोली जाने वाली भाषा को महाराष्ट्री कहा जाता है।[2] चण्ड के प्राकृतलक्षण से प्रारम्भ होकर 20वीं शताब्दी में लिखित पाईयकोमुई (प्राकृतकौमुदी) तक के व्याकरण ग्रन्थों में मुख्य रूप से महाराष्ट्री का विधान किया गया है तथा उसके अपवाद स्वरूप अन्य प्राकृतों की चर्चा है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप मात्र 'प्राकृत' कहने से महाराष्ट्री प्राकृत का बोध होने लगा और अन्य प्राकृत भाषाओं के लिए उनका नामोल्लेख करना अनिवार्य हो गया। प्रकाशित प्राकृत ग्रन्थ सबसे

*शोधार्थी, संस्कृत–विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली मो : 9990435231 ई-मेल : ganeshtiwaribr@gmail.com

अधिक महाराष्ट्री में ही दृष्टिगोचर है। अनेक विद्वानों ने महाराष्ट्री को उत्तम प्राकृत माना है।[3] हेमचन्द्र से पूर्व वररुचि और चण्ड के व्याकरण में जिस प्राकृत को सामान्यतः वर्णित कर अन्य प्राकृत भाषाओं का अपवादरूप में वर्णन किया गया है, वह महाराष्ट्री प्राकृत है। उसके बाद अन्य प्राकृतों का वर्णन करते समय उनके अन्त में शेषं महाराष्ट्रीवत् सूत्र से यह विधान किया गया है कि जो अपवाद रूप में विशेष नियम नहीं कहे गए हैं उन्हें महाराष्ट्री के समान समझना चाहिए। परन्तु वररुचि के व्याकरण के अन्तिम 3 पाद को प्रक्षिप्त माना जाता है। उन तीन पादों को परवर्ती टीकाकारों ने सम्मिलित किया है, ऐसा सम्पादकों का अभिप्राय है। लेकिन हेमचन्द्र सिद्धहैमशब्दानुशासनम् के अन्तिम आठवें अध्याय में प्रथम पाद से चतुर्थ पाद के 259 सूत्रों तक महाराष्ट्री का ही विधान करते हैं। तत्पश्चात् अन्य प्राकृत भाषाओं का विधान करते समय उनके अन्त में शेषं महाराष्ट्रीवत् सूत्र लिखकर यह द्योतित करते हैं कि महाराष्ट्री ही अन्य प्राकृतों के विवेचन की आधारभाषा है। हेमचन्द्र के बाद यह अक्षुण्ण परम्परा चली और सभी वैयाकरणों ने नामतः महाराष्ट्री का उल्लेख करते हुए विधान किया। सबसे अधिक महाराष्ट्री में ही प्राकृत काव्यों का प्रणयन हुआ। प्राकृत-साहित्य के प्रसिद्ध मुक्तककाव्य और प्रमुख महाकाव्य महाराष्ट्री में ही लिखे गए तथा उस भाषा को 'महाराष्ट्री-प्राकृत' न कह कर प्राकृत नाम से व्यवहृत किया जाने लगा। यह महाराष्ट्री की विशिष्टता, लोकप्रियता और सर्वस्वीकारिता को द्योतित करता है।

शौरसेनी

शूरसेन प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा शौरसेनी प्राकृत कहलाई।[4] सभी वैयाकरणों ने इस प्राकृत का उल्लेख किया है। भरत के अनुसार नाटक में नायिका और उनकी सखियाँ शौरसेनी बोलती हैं।[5] नाटकों में प्राकृत का सामान्यतया पद्यभाग जहाँ महाराष्ट्री में है वहीं गद्यभाग शौरसेनी में है। हेमचन्द्र महाराष्ट्री के पश्चात् शौरसेनी का वर्णन करते हैं। सभी वैयाकरणों ने शौरसेनी को कुछ विशेष नियमों में परिभाषित करने के अतिरिक्त शेष महाराष्ट्री के सदृश कहा है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में शौरसेनी को संस्कृत की अनुगमन करने वाली तथा महाराष्ट्री पर आश्रित बताया है।[6] लक्ष्मीधर ने छद्मवेशधारी साधुओं, जैनों तथा अधम और मध्यम लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा को शौरसेनी कहा है।[7]

मागधी

मगध प्रदेश में बोली जाने वाली प्राकृत मागधी भाषा थी।[8] भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार मागधी भाषा राजाओं के अन्तःपुर में रहने वाले सेवक आदि लोगों

की भाषा है।[9] लक्ष्मीधर के अनुसार धीवरादि नीच पात्र मागधी का प्रयोग करते हैं।[10] मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में कोहल का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मागधी राक्षस, भिक्षु, क्षपणक और चेट आदि द्वारा बोली जाती है।[11] वैयाकरणों ने जिस प्रकार शौरसेनी को कुछ अपवाद नियम से विहित करके शेष महाराष्ट्री के समान विधान किया है, उसी प्रकार मागधी के विशेष नियम बता कर शेष शौरसेनी के समान समझने के लिए कहा है। वररुचि मागधी का विवेचन करते समय कहते हैं– प्रकृतिः शौरसेनी[12] अर्थात् मागधी की प्रकृति शौरसेनी है। इसी बात को मार्कण्डेय और अधिक पुष्ट करते हुए लिखते हैं– मागधी शौरसेनीतः।[13]

इसके अतिरिक्त सभी ने यह उल्लेख किया है कि मागधी के विशेष नियमों के अतिरिक्त सब कुछ शौरसेनी जैसा समझना चाहिए तथा जो नियम शौरसेनी में भी न हो उसे प्राकृत (महाराष्ट्री) के समान समझना चाहिए।

अर्धमागधी

भरत के अनुसार चेट, राजकुमारों एवं श्रेष्ठिजनों की भाषा अर्धमागधी है।[14] यह प्राकृत शौरसेनी और मागधी की मिश्रण है। हेमचन्द्र ने इसे ऋषियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली आर्ष प्राकृत भाषा कहा है। इनके अनुसार आर्ष प्राकृत में सभी नियम विकल्प से होते हैं– आर्षे ही सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते[15]। इन्हीं का अनुकरण करते हुए त्रिविक्रम ने प्राकृतशब्दानुशासन में आर्ष और देश्य भाषा को रूढिगत मानकर उनकी स्वतन्त्र उत्पत्ति बताते हुए उनके लिए व्याकरण के नियमों की आवश्यकता ही नहीं बताई।[16] मार्कण्डेय ने उस मागधी को अर्धमागधी कहा है जो शौरसेनी से अदूर हो अर्थात् अत्यधिक निकटवर्ती हो।[17] इन सब के विपरीत क्रमदीश्वर संक्षिप्तसार के प्राकृताध्याय में लिखते हैं कि जिस मागधी में महाराष्ट्री मिश्रित हो वह अर्धमागधी कहलाती है।[18] अर्धमागधी जो कि श्वेताम्बर जैन आगमों की भाषा है, निश्चय ही महाराष्ट्री से भिन्न है। फिर भी प्राकृत वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित महाराष्ट्री प्राकृत के समीप होने के कारण कतिपय आधुनिक विद्वान् इसे जैन महाराष्ट्री नाम से उल्लिखित करते हैं, जो उचित नहीं जान पड़ता।[19]

पैशाची और चूलिका पैशाची

पिशाच देश में अथवा पिशाच जाति द्वारा प्रयुक्त भाषा पैशाची प्राकृत कहलाई।[20] वररुचि ने पैशाची का विवेचन करते समय शौरसेनी को इसकी प्रकृति बताया है।[21] हेमचन्द्र ने मागधी के बाद पैशाची का विवेचन किया है, परन्तु अन्त में शेषं शौरसेनीवत्[22] कह कर पैशाची के विवेचन में जो विशेष सूत्र बताए उनके अतिरिक्त नियमों को शौरसेनी के समान समझने के लिए कहा है। इसके द्वारा

हेमचन्द्र ने वररुचि के मत को ही पुष्ट किया है। हेमचन्द्र का अनुकरण करते हुए ही त्रिविक्रम ने पैशाची को व्याख्यायित किया है। लक्ष्मीधर के अनुसार पैशाची प्राकृत राक्षस, पिशाच और नीच व्यक्तियों द्वारा बोली जाती थी।[23] इन्होंने पाण्ड्य, केकय, बाह्लीक, सह्य, नेपाल, कुन्तल, सुधेष्ण, भोज, गान्धार, हैव और कन्नोजन को पिशाच देशों के अन्तर्गत परिगणित किया है।[24] मार्कण्डेय ने भी पूर्वपक्ष के रूप में 11 पिशाच देशों के नामों का उल्लेख किया है। उसके बाद अपने अनुसार इन्होंने पैशाची के कैकेय, शौरसेन और पाञ्चाल– ये तीन ही भेद किए हैं।[25] इन्होंने अपभ्रंश के बाद पैशाची का वर्णन किया है तथा ये भी पैशाची के मूल में शौरसेनी को ही मानते हैं।[26] अन्य वैयाकरणों ने केवल पैशाची के रूपगत परिवर्तन पर ध्यान दिया है। सर्वप्रथम हेमचन्द्र ही पैशाची के साथ चूलिका पैशाची का वर्णन करते हैं। हेमचन्द्र के अतिरिक्त इनके ही अनुकर्ता त्रिविक्रम ने इस भाषा को विशेष रूप से वर्णित किया है। बाद में त्रिविक्रम के सूत्रों पर ही अपने प्रक्रियात्मक ग्रन्थ षड्भाषाचन्द्रिका के कर्ता लक्ष्मीधर छः भाषाओं में चूलिका पैशाची को स्थान देते हैं। अन्य वैयाकरणों ने इस भाषा को पैशाची के गर्भ में समाहित कर पृथकतया इसका विवेचन नहीं किया है। पैशाची से इसकी भिन्नता एवं विशिष्टता मुख्यतः यह है कि पैशाची में जिस पद में रकार है उसे चूलिका पैशाची में लकार हो जाता है। अन्य विशेषताओं के लिए हेमचन्द्र एवं त्रिविक्रम के व्याकरणशास्त्र द्रष्टव्य हैं।

आवन्ती

भरत ने आवन्ती को धूर्तों की भाषा कहा है। विदूषक आदि की भाषा प्राच्या और धूर्तों की भाषा अवन्तिजा है।[27] चण्ड, वररुचि, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम आदि प्राकृत वैयाकरणों ने आवन्ती का नामोल्लेख नहीं किया है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में भाषा के पाँच विभागों के अन्तर्गत आवन्ती को चतुर्थ स्थान पर रखा है। इनके अनुसार महाराष्ट्री और शौरसेनी के संकर से यह भाषा सिद्ध हुई[28] तथा मालव, उज्जयिनी आदि आवन्ती भाषी प्रदेश थे। इस भाषा का अस्तित्व इन्हीं क्षेत्रों में था। मार्कण्डेय के बाद भी किसी वैयाकरण ने इस भाषा का पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया है।

प्राच्या

नाट्यशास्त्र में विदूषक आदि पात्रों की भाषा को प्राच्या कहा गया है।[29] आवन्ती के समान ही इस भाषा के विषय में भी त्रिविक्रम पर्यन्त वैयाकरणों ने अपने व्याकरण में कोई विशेष विधान नहीं किया है। सर्वप्रथम पुरुषोत्तमदेव अपने

व्याकरण शास्त्र में इस भाषा का विवेचन करते हैं। तत्पश्चात् उन्हीं का अनुकरण करते हुए मार्कण्डेय ने भाषा के पाँच विभागों के अन्तर्गत प्राच्या को तृतीय स्थान पर रखा है। इनके अनुसार शौरसेनी से प्राच्या की सिद्धि होती है।[30] अर्थात् शौरसेनी से ही प्राच्या का उद्भव हुआ है।

बाह्लीकी

इस भाषा के विषय में भी नाट्यशास्त्र में उल्लेख है। भरत के अनुसार उदीच्यों अर्थात् उत्तर भारत के निवासियों और खसों के अपने देश की भाषा बाह्लीकी होती है।[31] प्रायः वैयाकरणों ने इस भाषा का नामोल्लेख नहीं किया है। मार्कण्डेय ने भी इस भाषा को आवन्ती के अन्तर्गत ही स्वीकृत करते हुए लिखा है कि इन दोनों भाषाओं में मात्र एक भेद है – आवन्ती में जहाँ 'र' का प्रयोग होता है, वहाँ पर बाह्लीकी में 'ल' होता है।[32] अतः इन दोनों भाषाओं में अभेद दृष्टिगत होता है।

दाक्षिणात्या

भरत ने दाक्षिणात्या को जुआरियों, योद्धाओं और नागरकों आदि की भाषा कहा है।[33] इस भाषा के विषय में भी प्राकृत वैयाकरणों ने कोई उल्लेख नहीं किया है। लक्षण और उदाहरणों के अभाव स्वरूप दाक्षिणात्या के विषय में मार्कण्डेय भी कुछ नहीं कहते हैं।[34] रामशर्मा तर्कवागीश ने इस भाषा की प्रशंसा में लिखा है कि ''पदों से मिश्रित तथा संस्कृत आदि भाषाओं से युक्त इसका काव्य स्वादानुसार अमृत से भी अधिक सरस होता है''।[35]

शाकारी

नाट्यशास्त्र में विभाषा के अन्तर्गत शाकारी को रखा गया है। भरत के अनुसार शकार, घोष आदि तथा उसी स्वभाव के अन्य वर्गों को शाकारी भाषा का प्रयोग करना चाहिए।[36] नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती के अनुसार शकार की बहुलता वाली भाषा शाकारी भाषा कहलाती है।[37] मार्कण्डेय मागधी से शाकारी की सिद्धि की बात करते हैं।[38] इन्होंने शाकारी को मागधी से जनित बताते हुए शकार द्वारा बोली जाने वाली भाषा कहा है। मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण के 13वें पाद में 9 सूत्रों से शाकारी को व्याख्यायित किया है और इनके अतिरिक्त शेष नियम मागधी के समान ही समझने के लिए कहा है।

चाण्डाली

भरत ने चाण्डाली को भी विभाषा के अन्तर्गत रखा है। इनके अनुसार पुल्कस

आदि जातियों को चाण्डाली भाषा का प्रयोग करना चाहिये।[39] मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व के 14वें पाद में चाण्डाली का वर्णन करते हुए उसे मागधी और शौरसेनी का मिश्रण कहा है।[40] साथ ही साथ इसमें ग्राम्य उक्तियों की बहुलता को भी स्वीकृत किया है।[41]

शाबरी

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार हाथी, घोड़े, बकरे, भेड़, ऊँट आदि के निवास स्थान में रहने वाले व्यक्तियों की भाषा आभीरी अथवा शाबरी होती है।[42] त्रिविक्रम के परवर्ती वैयाकरणों ने इस भाषा का विवेचन किया है। पुरुषोत्तम ने इसे मागधी की उपबोली माना है। परन्तु मार्कण्डेय इसकी सिद्धि में मुख्यतः चाण्डाली को मानते हैं तथा चाण्डाली की मूलस्थान शौरसेनी, मागधी और शाकारी को भी इसके उद्भव का कारण स्वीकार करते हैं।[43]

औड्री और आभीरी

मार्कण्डेय के अनुसार औड्री और शाबरी एक ही उपभाषा के नाम हैं। शाबरी उस समय औड्री का रूप ग्रहण करती है जब उत्कल देशीय शब्द और शौरसेनी शब्दों का मेल होता है।[44] तीनों भाषाओं के संकर से ही औड्री भाषा का उद्भव होता है। आभीरी को भी मार्कण्डेय ने शाबरी से अभिन्न माना है।[45] भरत के अनुसार हाथी, घोड़े, बकरे, भेड़, ऊँट आदि के निवास-स्थान में रहने वाले व्यक्तियों की भाषा आभीरी अथवा शाबरी होती है। इससे भी दोनों भाषाओं की अभिन्नता दिखाई पड़ती है। मार्कण्डेय ने अपने व्याकरण के 15वें पाद में ही शाबरी, औड्री और आभीरी– इन तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है।

टाक्की

टक्क देश की भाषा टाक्की प्राकृत कहलाई। त्रिविक्रम के बाद के वैयाकरणों ने इसे विभाषा के अन्तर्गत वर्णित किया है। मार्कण्डेय के अनुसार संस्कृत और शौरसेनी के मेल से टाक्की भाषा अस्तित्व में आयी।[46] यह भाषा नाटक में जुआ आदि क्रीड़ा खेलने वालों, वणिकों और हीनों द्वारा बोली जाती है।[47] अन्य आचार्यों का मत प्रस्तुत करते हुए इसे मार्कण्डेय ने द्राविडी भी कहा है। टक्क देश की भाषा में द्राविडी दिखलाई पड़ती है। इसकी विशेषता यह है कि द्राविडों द्वारा यह आदृत भी है।[48] नाट्यशास्त्र में भी वनेचरों द्वारा व्यवहृत भाषा को द्राविडी कहा गया है।[49]

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्राकृतों का वर्णन करने के पश्चात्

अब प्रमुख व्याकरण-ग्रन्थों में प्राकृत के स्वरूप को आरेख के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.2 प्राकृत-वैयाकरण

आरेख 1 : भरत नाट्यशास्त्र (17वाँ अध्याय)

1. मागधी, 2. आवन्ती, 3. प्राच्या, 4. शौरसेनी, 5. अर्धमागधी, 6. बाल्हीकी, 7. दाक्षिणात्या।

आरेख 2 : चण्ड प्राकृतलक्षण (कुल चार पाद)

1. महाराष्ट्री (कुल चार पद), 2. पैशाची (4.2वाँ सूत्र), 3. मागधी (4.3वाँ सूत्र) 4. शौरसेनी (4.4वाँ सूत्र)।

आरेख 3 : वररुचि प्राकृतप्रकाश (कुल 12 परिच्छेद)

1. महाराष्ट्री (1 से 9 परिच्छेद पर्यन्त), 2. पैशाची (10वाँ परिच्छेद), 3. मागधी (11वाँ परिच्छेद), 4. शौरसेनी (12वाँ परिच्छेद)।

आरेख 4 : हेमचन्द्राचार्य सिद्धहेमशब्दानुशासनम् (8वाँ अध्याय)

1. महाराष्ट्री (8.1.1 से 8.4.259 सूत्र तक) 2. अर्धमागधी (आर्ष) (8.1.2वाँ सूत्र) 3. शौरसेनी (8.4.260 से 8.4.286 तक) 4. मागधी (8.4.287 से 8.4.302 तक) 5. पैशाची (8.4.303 से 8.4.324 तक) 6. चूलिकापैशाची (8.4.325 से 8.4. 328 तक)।

आरेख 5 : त्रिविक्रमभट्ट प्राकृत-शब्दानुशासनम् (कुल 12 पाद)

1. महाराष्ट्री (1.1.1 से 3.1 पाद तक), 2. शौरसेनी (3.2.1 से 3.2.26 तक), 3. मागधी (3.2.27 से 3.2.42 तक), 4. पैशाची (3.2.43 से 3.2.63 तक), 5. चूलिकापैशाची (3.2.64 से 3.2.67 तक)।

आरेख 6 : क्रमदीश्वर संक्षिप्तसार (प्राकृताध्याय) (कुल 5 परिच्छेद)

1. महाराष्ट्री (1 से 4 परिच्छेद तक), 2. शौरसेनी (5.68 से 5.82 तक), 3. मागधी (5.83 से 5.94 तक), 4. अर्धमागधी (5.95वाँ सूत्र), 5. शबरी (5.96 से 99 तक), 6. पैशाची (5.100 से 113 तक)।

आरेख 7 : मार्कण्डेय प्राकृतसर्वस्व (कुल 20 पाद)

1. **भाषा**– • महाराष्ट्री– 1 से 8वें पाद तक, • शौरसेनी– 9वाँ पाद, • प्राच्या– 10वाँ पाद, • अवन्ती– 11वाँ पाद, • मागधी– 12.1 से 12.37 सूत्र तक, • अर्धमागधी– 12.38वाँ सूत्र।

2. **विभाषा**– • शाकरी– 13वाँ पाद, • चाण्डाली– 14वाँ पाद, • शाबरी– 15.1 से 15.8 तक, • औद्री– 15.9वाँ सूत्र, • आभरी– 15.10वाँ सूत्र, • टाक्की– 16वाँ पाद।

3. **अपभ्रंश**– • नागर– 17वाँ पाद, • व्राचड– 18.1 से 18.11 तक, • उपनागर– 18.12वाँ सूत्र।

4. **पैशाची**– • कैकेयी पैशाची– 19वाँ पाद, • शौरसेनी पैशाची– 20.1 से 20.13 तक, • पांचाली पैशाची– 20.14वाँ सूत्र।

आरेख 8 : श्रीशेषकृष्ण प्राकृतचन्द्रिका (कुल 9 प्रकाश (पद्यात्मक))

1. महाराष्ट्री (1 से 8वें प्रकाश तक), 2. शौरसेनी (9.1 से 9.7 तक), 3. मागधी (9.8 से 9.10 तक), 4. पैशाची (9.11 से 9.14 तक), 5. चूलिकापैशाची (9.15वाँ और 9.16वाँ पद्य), 6. अर्धमागधी (आर्ष) (8.4.325 से 8.4.328 तक)।

सन्दर्भ-सूची

1. प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान, एस.एम. कत्रे, भूमिका पृ. 1
2. तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः। –(ष. भा. च. 27, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
3. महाराष्ट्राराष्ट्रश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
   सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।। –(काव्यादर्श 1.34, दण्डी)
4. शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते। –(ष. भा. च. 27, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
5. नायिकानां सखीनां च शूरसेन्यविरोधिनी।। –(ना. शा. 17.52, भरत)
6. शौरसेनी महाराष्ट्रया संस्कृतानुगमात् क्वचित्। –(प्रा. स. 9.1, मार्कण्डेय)
7. छद्मलिङ्गवतां तद्वज्जैनानामिति केचन।
   अधमे मध्यमे वापि शौरसेनी प्रयुज्यते।। –(ष. भा. च. 34, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
8. मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते।–(ष. भा. च. 28, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
9. मागधी तु नरेन्द्राणामन्तःपुरसमाश्रया। –(ना. शा., 17.51, भरत)
10. धीवराद्यतिनीचेषु मागधी विनियुज्यते।–(ष. भा. च. 35, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
11. राक्षसभिक्षुक्षपणकचेटाद्या मागधीं प्राहुः। –(प्रा. स. 12.1, मार्कण्डेय)
12. प्रा. प्र. 11.2, वररुचि।
13. प्रा. स. 12.1, मार्कण्डेय।
14. चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी।। 51।। –(ना. शा., 17.51, भरत)
15. आर्षम्– ऋषीणाम् इदं आर्षम्। आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति। तदपि यथास्थानं दर्शयिष्यामः।
   आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते। (सि. हेम. 8.1.3)

16. देश्यमार्षं च रूढत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च भूयसा।
लक्ष्म नापेक्षते, तस्य सम्प्रदायो हि बोधकः।। –(प्रा. शब्दा. प्रारम्भिक कारिका 7, त्रिविक्रम)
17. शौरसेन्या अदूरत्वादियमेवार्धमागधी। –(प्रा. स. 12.38, मार्कण्डेय)
18. महाराष्ट्रीमिश्रार्धमागधी। –(संक्षिप्तसार, प्राकृताध्याय 5.95, क्रमदीश्वर)
19 प्राकृत साहित्य का इतिहास। –(पृष्ठ 29, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन)
20. पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत्। (ष. भा. च. 28, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
21. प्रकृतिः शौरसेनी।। (प्रा. प्र. 10.2, वररुचि)
22. सि. हेम. 4.323
23. रक्षःपिशाचनीचेषु पैशाचीद्वितियं भवेत्। –(ष. भा. च. 35, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
24. पाण्ड्यकेकयबाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुधेष्णभोजगान्धारहैवकन्नोजनास्तथा।।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्।
पिशाचजातमथवा पैशाचीद्वियमुच्यते।। –(ष.भा.च. 29-30, प्रारम्भिक कारिका, लक्ष्मीधर)
25. कैकेयं शौरसेनं च पाञ्चालमिति च त्रिधा।।
पैशाच्यो नागरा यस्मात्तेनाप्यन्या न लक्षिताः।। –(प्रा. स. 1.6, मार्कण्डेय)
26. पैशाचिकीनां भाषाणां प्रथमा केकयाभिधा।
संस्कृते शौरसेन्यां च सिद्धस्यैवात्र विक्रिया।। –(प्रा. स. 19.1, मार्कण्डेय)
27. प्राच्या विदूषकादीनां धूर्तानामप्यवन्तिजा। –(ना. शा., 17.51, भरत)
28. आवन्ती स्यान्महाराष्ट्रीशौरसेन्योस्तु संकरात्।। –(प्रा. स. 19.1, मार्कण्डेय)
29. प्राच्या विदूषकादीनां धूर्तानामप्यवन्तिजा। –(ना. शा., 17.51, भरत)
30. प्राच्यासिद्धिः शौरसेन्याः।। –(प्रा. स. 10.1, मार्कण्डेय)
31. बाह्लीकभाषादीच्यानां खसानां च स्वदेशजा। –(ना. शा., 17.53, भरत)
32. आवन्त्यामेव बाह्लीकी किं तु रस्यात्र लो भवेत्। –(प्रा. स. 11.13, मार्कण्डेय)
33. यौधनागरकादीनां दक्षिणात्याथ दीव्यताम्। –(ना. शा., 17.53, भरत)
34. दाक्षिणात्यायाश्च लक्षणाकरणात्। –(प्रा. स. 1.3 का वृत्ति भाग, मार्कण्डेय)
35. प्राकृत साहित्य का इतिहास– 47 पृष्ठ, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन।
36. शकारघोषकादीनां तत्स्वभावश्च यो गणः।
शकारभाषा प्रयोक्तव्या चाण्डाली पुल्कसादिषु।। –(ना. शा., 17.54, भरत)
37. शकारबहुला भाषा शकारभाषा। –(अभि. भा. 17.54)
38. मागध्याः शाकारी। (प्रा. स.–13.1, मार्कण्डेय)
39. ना. शा., 17.54, भरत।

40. चाण्डाली मागधीशौरसेनीभ्यां प्रायशो भवेत्। —(प्रा. स. 14.1, मार्कण्डेय)
41. इह प्रायो ग्राम्यशब्दार्थपार्थवम्। —(प्रा. स. 14.9, मार्कण्डेय)
42. गजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्तिः शावरी वा द्रामिडी वनचारिषु।। —(ना. शा., 17.56, भरत)
43. चाण्डाल्याः शाबरीसिद्धिः। तन्मूलेभ्यः क्वचित्क्वचित्। —(प्रा. स. 1.1-2, मार्कण्डेय)
44. शाबर्यामेवौड्रीयोगात्तद्देश्यशौरसेन्यादेः। —(प्रा. स. 15.9, मार्कण्डेय)
45. आभीर्यप्येवं स्यात् क्त्व इअउऔ नात्यपभ्रंशः। —(प्रा. स. 15.10, मार्कण्डेय)
46. टाक्की स्यात्संस्कृतं शौरसेनी चान्योन्यमिश्रिते। —(प्रा. स. 16.1, मार्कण्डेय)
47. प्रयुज्यते नाटकादौ द्यूतादिव्यवहारिभिः।
वणिग्भिर्हीनदेहैश्च तदाहुष्टक्क भाषितम्।। —(प्रा. स. 16.1 का वृत्ति भाग, मार्कण्डेय)
48. टक्कदेशीयभाषायां दृश्यते द्राविडी तथा।
तत्र चायं विशेषोऽस्ति द्राविडैरादृता परम्।—(प्रा. स. 16.2 का वृत्ति भाग, मार्कण्डेय)
49. ना. शा., 17.56, भरत।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

1. चण्ड, (1880), सम्पा. हॉर्नले, ए.एफ. रूडल्फ, **प्राकृतलक्षण**, कलकत्ता : एसीयाटिक सोसाइटी।
2. हेमचन्द्र, (1995), सम्पा. के.वा. आप्टे., **प्राकृत व्याकरण** (सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय), वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत भारती।
3. वररुचि, (1996), सम्पा. उपाध्याय, बलदेव, **प्राकृत-प्रकाश** (संजीवनी, सुबोधिनी, मनोरमा, प्राकृतमंजरी और हिन्दी अनुवाद), वाराणसी : सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय।
4. क्रमदीश्वर, (1980), सम्पा. बेनरजी, सत्य रंजन, **प्राकृताध्याय,** अहमदाबादः प्राकृत ग्रन्थ परिषद्।
5. मार्कण्डेय, (1968), सम्पा. आचार्य, कृष्णचन्द्र, **प्राकृतसर्वस्व** अहमदाबाद : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्।
6. शेषकृष्ण, (1969), सम्पा. झा, प्रभाकर, **प्राकृतचन्द्रिका,** वाराणसी : भारतीय विद्या प्रकाशन।
7. कवि, रघुनाथ, (1962), सम्पा. मुनि, जिन विजय, **प्राकृतानन्द**, जोधपुर : राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान।
8. त्रिविक्रम, (1954), सम्पा. वैद्य, पी.एल., **प्राकृतशब्दानुशासन**, शोलापुर : जैनसंस्कृति-संरक्षक-संघ।
9. लक्ष्मीधर, (1916), सम्पा. त्रिवेदी, कमलाशंकर, **षड्भाषाचन्द्रिका,** मुम्बईः राजकीयग्रन्थालय।
10. दीक्षित, अप्पय्य, (1953), सम्पा. आचार्य, श्रीनिवासगोपाल, **प्राकृतमणिदीप,** मैसूर

: प्राच्यशोध संस्थान।
11. शास्त्री, नृसिंह, (1992), सम्पा. रेड्डी, मुदिगण्टि गोपाल एवं शर्मा, वुप्पल श्रीनिवास, **प्राकृतशब्दप्रदीपिका,** हैदराबाद : संस्कृतपरिषद् उस्मानिया विश्वविद्यालय।
12. घासीलाल, जैनाचार्य, (1988), **प्राकृत-कौमुदी**, इन्दौरः आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति।
13. घासीलाल, जैनाचार्य, (1987), **प्राकृत चिन्तामणि,** इन्दौर : आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति।
14. महाप्रज्ञ, युवाचार्य, (2018), अनु. एवं सम्पा. साध्वी, अक्षयप्रभा, **तुलसीमंजरी,** लाडनूं : जैन विश्व भारती।
15. जैन, जगदीशचन्द्र, (2014), **प्राकृत-साहित्य का इतिहास**, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।
16. शास्त्री, नेमिचन्द्र, (1966), **प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,** वाराणसी : तारा बुक एजेन्सी।
17. शर्मा, उमाशङ्कर ऋषि, (पुनर्मुद्रित 2016), **संस्कृत साहित्य का इतिहास**, वाराणसी : चौखम्भा भारती अकादमी।
18. मुनि, भरत, (2001), हिन्दी व्याख्या व सम्पा. द्विवेदी, पारसनाथ. **नाट्यशास्त्रम्,** वाराणसी : सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय।
19. पिशल. आर., (1958), अनु. जोशी, हेमचन्द्र, **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण,** पटना : बिहार राष्ट्रभाषा–परिषद्।
20. कत्रे, एस.एम., (1972), हिन्दी अनु. जैतली, रमाशंकर, **प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान,** जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी। ❖❖

णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थोव्व जिणवरमदम्हि।
तो णयवादे णिवुणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति॥
तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जदिदव्वं।
अत्थ गई वि य णय-वाय-गहण-लीणा दुरहियम्मा॥

–षट्खंडागम 1/1/1/68

अर्थात् तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान के मत से नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए, अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भली प्रकार जान लिया है, उसे ही अर्थसम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ के परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवाद रूपी जंगल में अन्तर्निहित है, अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जानने के लिए कठिन है।

प्राकृतभाषा वर्णमाला विमर्श

—डॉ. राजेन्द्र चिन्तामणी जैन*

भाषा कोई भी क्यों ना हो उसका उद्‌गम तथा विकास ध्वनियों तथा वर्णों के माध्यम से ही आरंभ होता है। भारतीय संस्कृति में संस्कृत तथा प्राकृत भाषायें प्राचीन भाषायें मानी जाती हैं। ये भाषायें प्राचीन भारत में समान काल में भारतीय संस्कृति को विश्वस्तर पर पहचान देने में समर्थ रही है यह बात आज विद्यमान वैदिक तथा श्रमण परम्परा के आधार से सर्वथा स्पष्ट है। परम्परा तथा भाषा चाहें कोई भी क्यों न हो, वह समष्टि रूपसे भारतीय संस्कृति को ही समृद्ध करने वाली होती है। अतः भारत में सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का तथा परम्पराओं का सभी सम्प्रदायों में समान रूप से सम्मान होता है यह भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। हम विविधता में एकता का इसीलिए संदेश दे पाते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में हम प्राकृतभाषा की वर्णमाला पर विचार-विमर्श प्रस्तुत करना चाहते हैं जिससे संबंधित भ्रान्तियाँ दूर हो सके तथा भाषाविषयक तथ्य सबके लिए सहज उपलब्ध हो सके।

कोई भी भाषा भाषाशास्त्र की दृष्टिसे तब समृद्ध और सर्म्पक हो सकती है जब उसके छोटे छोटे घटक जैसे ध्वनियॉ, वर्ण, पद, वाक्य इत्यादि समृद्ध हो और सारे संवाद-घटकों को व्यक्त करने कराने वाले हो। संस्कृत भाषा इस सन्दर्भ में सर्वथा प्राप्तयशस्क है। आचार्य पाणिनी ने इसे नियमों में बांधकर योग्य दिशा में प्रवहित किया है। परन्तु आचार्य पाणिनी के पूर्व वैदिक काल में प्राकृत भाषाओं की तथा (वैदिक)संस्कृतभाषा की स्थिति कुछ ज्यादा भिन्न नहीं थी। वही काल भारतीयसंस्कृति का मूलाधारकाल भी था, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता। प्राकृत भाषाओं की स्थिति संस्कृतभाषा से कुछ थोडी इसलिए भिन्न थी कि ये भाषायें पूर्वकाल में जनजाति, विजाति तथा सर्वसामान्य मध्यम वर्ग की भाषायें रही थी। प्रान्त-प्रान्त में थोडी बहुत विभिन्नता (परिवर्तनों) के साथ ये भाषायें सम्पूर्ण भारत में बोली जाती थी। उदाहरण के तौर पर देखा जाय तो, मगधदेश में मागधी, काश्मीरप्रान्त में

*सहायक प्राध्यापक, कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, रामटेक (महा.) मो. : 9372071292

पैशाची, महाराष्ट्र/सौराष्ट्र में महाराष्ट्री, शूरसेनप्रान्त में शौरसेनी, बांगाल में ढक्की, अवधप्रान्त में अवधी, मिथिलाप्रदेश में मैथिली इत्यादि भाषा विभाषायें प्राकृतभाषाओं के रूप में बोली जाती थी। ये विभिन्नतायें अथवा परिवर्तनशीलता प्राकृतभाषाओं का स्वभाव होने से इनपर संस्कृत जैसा समर्पक व्याकरण बनना भी कठिन रहा होगा; यह आचार्य पाणिनी के पूर्वकालिक संस्कृतनाटककार महाकवि भास के नाटकों के अध्ययन से आसानी से समझा जा सकता है। संस्कृत और प्राकृत का पाणिनी पूर्वकालिक साहित्य में युगपत साहचर्य तथा स्थान क्या था यह भी इससे अवगत हो जाता है।

आचार्य पाणिनी स्वयं संस्कृत के व्याकरणरचनाकार होते हुये भी अपने पाणिनीयशिक्षा ग्रंथ में प्राकृत को संस्कृत के बराबर वर्ण वाली कहते हैं। तद्यथा–

त्रिषष्टिश्चतुषष्टिर्वा वर्णा सम्भवतो मताः।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयम्प्रोक्ता स्वयंभुवा।।[1]

उत्तरवर्ती वररूचि इत्यादिकृत प्राकृतप्रकाश नामक प्राकृतव्याकरणग्रन्थ तथा कालिदास, शूद्रक, भवभूति, विशाखदत्त इत्यादि संस्कृतनाटककारों के नाटकों से प्राकृत–संस्कृत में समान काल में परस्पर पूरकता रही है– यह बात स्पष्ट हो जाती है। आचार्य पाणिनी के समान ही प्राकृतवर्णों की संख्या के बारे में जैनाचार्य वीरसेन (इ.स.७७०–८२७) अपने धवला टीका ग्रन्थ में प्राकृत में त्रेसठ अथवा चौसठ वर्ण होने की बात स्पष्ट रूप से लिखते हैं। तद्यथा–

तेत्तीस वेंजणाइं सत्तावीसा हवंति सव्वसरा।
चत्तारि अजोगवाहा एवं चउसट्ठि वण्णाओ।।[2]

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राकृत में वर्ण संख्या संस्कृत भाषा की अपेक्षा से कम तो कदापि नहीं है। इससे, दोनों भाषायें समकाल में तथा परस्पर पूरक रही है– यह बात दोनों भाषाओं के साहित्य अध्ययन से आज भी स्पष्ट हो जाती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनी के काल में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषायें समाज में जीवित थीं और दोनों में समान रूप से काव्य निर्माण होता रहा था। अनेक संस्कृतकाव्यशास्त्रकारों ने भी उसके उल्लेख जगह–जगह पर किये आज भी हमें प्राप्त होते हैं। प्राकृत भाषा पुरातन काल में सार्वत्रिक तथा सर्वजनसम्प्रदाय की भाषा थी जिसका प्रयोग जनमनोरंजक नाट्यों में बहुलता से किया जाता था। यह इस बात का परिचायक है कि यह भाषा संप्रदायविशिष्ट न होकर के समग्र देशवासियों में एक भाषा संवाद थी। भाषा एक संवाद का माध्यम होने से उसका क्षेत्र सम्प्रदाय, देश आदि में कदापि सीमित नहीं होता। यदि होता है तो यह उस भाषा का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। भाषाओं के समृद्धि तथा भाग्यमूलक तथ्यों को पूर्वकथन के अनुसार आचार्य पाणिनी, धवला टीकाकार आचार्य वीरसेन(इ.स.७७०–८२७)[3] इत्यादियों ने लिखके रखा है, यह आज प्राकृतभाषा की समृद्धि हेतु आनन्द का विषय है।

प्राकृतवर्ण-माला को पढाते समय अकसर मन में बहुत सारे प्रश्न आते थे। लगता था कि प्राकृत में संस्कृत जैसी समृद्धभाषाओं से वर्ण संख्या कम क्यों बतायी जाती है? इत्यादि। कुछ संदर्भ टटोलते समय पाणिनीय शिक्षा ग्रन्थ में संस्कृत और प्राकृत में वर्णों की संख्या के बारे में पद्य मिला जिससे मुझे बहुत राहत और आनंद हुआ। और वर्ण-संख्या के बारे में मुझे यही वाञ्छित था। उसी तरह जैनशास्त्रग्रन्थ धवला में शौरसेनी भाषा की ६४ वर्णसंख्या संबंधी उपरोक्त पद्य भी पढा तब तो यह मत और भी दृढ हो जाता है कि प्राकृत भाषायें बहुविध आयामों में तथा विविध ध्वनियों, वर्णों तथा शब्दरूपों के साथ सर्वथा विकसित थीं और हैं। मात्र आज के दुय्यम प्राकृतसंदर्भग्रंथों में दृश्यमान वर्णों को ही दृष्टि में रखते हुये प्राकृतभाषा-वर्णसंख्या को संस्कृत आदि भाषाओं से कम बताया जाता है जो सर्वथा उचित नहीं है।

प्राकृत एक तत्तत् देशानुसारी भाषा है। संस्कृतादि भाषा की अपेक्षा इसमें शब्दरूप (सुबन्तपद) सीमित न होकर के एकाधिक मिलते हैं। जैसे अकारान्त देव शब्द के पञ्चमी एकवचन/बहुवचन के रूप अनेक संख्या में हैं। यह तथ्य अन्यभाषाओं की अपेक्षा प्राकृत के आयामी तथा समृद्ध-भाषा होने का ही परिचायक है तथा प्राकृत का अलंकरण है। जब शब्दरूप एकाधिक भिन्न-भिन्न मिलते हैं और तत्तत् विभक्ति-वचन के रूप संख्या में एकाधिक बन जाते हैं तब वर्णो की संख्या कम तो नहीं हो सकती। जबकि, उपरोक्त आचार्य पाणिनी तथा वीरसेनजी के ग्रन्थसंदर्भो से संस्कृतभाषा के वर्णों के तुल्य अथवा अधिक भी जरूर हो सकती है। यह उपलब्ध साहित्याध्ययन से अनुसंधान का विषय है। वर्णसंख्या तुल्य होने का प्रमाण तो स्वतः आचार्य पाणिनी दे चुके हैं। तब, प्राकृतभाषा संस्कृतादि भाषावर्णों की अपेक्षा कम कैसे हो सकती है? ऐसा होना असंगत प्रतीत होता है और यह भाषा के सर्वव्यापी तथा सर्वसमावेशक होने में बाधक होगा। तब, इस पर तथ्य तक पहुँचते हुये तथा प्राथमिक संदर्भग्रन्थों[4] को ध्यान में रखते हुये मैं कुछ निम्न निष्कर्ष पर पहुंचता हूँ।

प्राकृत भाषा परिवर्तनशीला भाषा है, अन्य भाषा की अपेक्षा से अधिकतर परिवर्तनशीला है, यह सबको विदित है। प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार से विशाल जनसमुदाय इसे अपने अपने तरीके से बोलता था। यही बात उस समय की वैदिक संस्कृत के बारे में भी थी। इनके लिए व्याकरण-नियमों में ढालना किसी को संभव नहीं हुआ था। जिसमें कालानुक्रम में आचार्य पाणिनी ने समाज तथा भाषा अध्ययन के पश्चात् जो व्याकरण लिखे, उसे लौकिक संस्कृत व्याकरण कहा गया। प्राकृत भाषा की बात तो संस्कृत से भी भिन्न थी। अनेक जनभाषा-विभाषाओं का समावेश प्राकृत में गृहीत था। ऐसी स्थिति में प्राकृत का व्याकरण-नियमों से नियमन करना किसी को और भी असंभव था। इसलिए प्राकृत भाषा मूलतः संस्कृतादि भाषाओं की अपेक्षा से अधिक परिवर्तनशील रही है। यह हम सब जानते हैं।

एक दृष्टि से भाषा का परिवर्त्तनशील होना अपायकारक नहीं है, क्योंकि उससे उसका क्षेत्र नियमन न होकर के व्याप्ति बढती है। किसी भाषा को स्वभावतः परिवर्तन से (बहने से) रोकने का मतलब यही होता है जैसे स्वच्छन्द बहना स्वभाववाली नदी को दो तीरों में सीमित करना। अतः बंधनकारी भाषाव्याकरण भी कभी-कभी भाषा की बढती व्याप्ति में बाधक होता है। जैसे की पाश्चात्य विचारक भी इसे प्रधानता से मानते हैं। इस पक्ष से देखा जाये तो प्राकृत परिवर्तन सहनशील होने से जरूर सुदूर भारतवर्ष में रही होगी। अतः प्राकृत प्रान्तभेद से परिवर्तनशील होने से यदि व्याकरण में सर्वथा बांधी नहीं गयी हो तो यह प्राकृत भाषा के उत्कर्ष के लिए ही समझना चाहिए।

प्राकृत में एक ही विभक्ति के तत्तत् वचन के अनेक शब्दरूप मिलते हैं, अनेक देशी शब्द मिलते हैं, यह भी प्राकृत भाषा के उत्कर्ष के लिए ही समझना चाहिए। तथा वर्णमाला में वर्णगणना करते समय व्यक्त/लौकिक (परिवर्तित) वर्ण तथा अव्यक्त/अलौकिक (परिवर्तकमूल) वर्ण इस तरह से वर्णगणना करना चाहिए। प्राकृत में ऋ वर्ण नहीं दिखता है- इसका मतलब ऋ वर्ण प्राकृत में नही होता- ऐसा नहीं मानना चाहिए। जिस तरह कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता, उसी तरह प्राकृत में परिवर्तितवर्ण भी परिवर्तनकारीवर्ण के अभाव में कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं हो सकते हैं। अतः यदि अ,इ,उ, रि में परिवर्तित वर्ण हैं, इसका तात्पर्य उनका कारणस्वरूप ऋ वर्ण भी प्राकृत वर्णमाला में है। वह दृग्गोचर नहीं है, इसलिए अलौकिक वर्ण के रूप में उसका अस्तित्व क्रमप्राप्त है। अतः दोनों प्रकार के वर्णों की वर्णमाला में गणना प्रासंगिक रहेगी; जिसे ध्यान में रखकर पाणिनी अथवा धवलाकार आदि आचार्यों ने मत उपस्थापित किया होगा- ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

प्राकृत संबधित तत्तत् परवर्ती दुय्यम साहित्य में केवल लौकिकदृष्ट्या परिवर्तित वर्णों की गणना को सूचित किया है। जिसमें परिवर्तनकारी मूल वर्णों[5] की गणना नहीं है उसे अलोक (अलौकिक) दृष्टि से पाणिनी तथा धवलाकार ने माना हो, जिससे लौकिक तथा अलौकिक दृष्ट्या प्राकृत में वर्णसंख्या ६३ अथवा ६४ कहने में दोनों आचार्यों को आपत्ति नहीं थी, यह निष्कर्ष हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धहैमशब्दानुशासन व्याकरणग्रन्थ के आठवें अध्याय में 'अथ प्राकृतम्।' ८.१ सूत्र के वृत्ति के अनुसार 'तेन ऋ ॠ ऌ ऐ औ ङ ञ श ष-विसर्जनीयप्लुतवर्ज्यो वर्णसमाम्नायो **लोकाद्** अवगन्तव्यः' यह कहकर वर्ण बताये हैं। संख्या स्पष्ट रूप से नहीं बतायी है। उसी तरह आचार्य वररुचि के प्राकृतप्रकाश तथा आचार्य क्रमदीश्वर के प्राकृताध्याय वृत्ति में **लोकानुसारात् प्राकृते** इत्यादि लिखकर के लोक में व्यक्त दिखाई देने वाले परिवर्तित प्राकृतवर्णों की सूचना 'लोक' इस पद से की है। इसका मतलब यह है कि, प्राकृत में वर्ण लोक अर्थात व्यक्तदशा में परिवर्तित वर्ण तथा अलोक अर्थात् अव्यक्त दशा में परिवर्तनकारी वर्ण भी हुआ करते हैं। तब दोनों व्यक्ताव्यक्तों का ग्रहण प्राकृतभाषा की

वर्णसंख्या में होने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। दुर्ग्यम संदर्भग्रंथों में जो केवल परिवर्तित वर्णों के साथ प्राकृतवर्णों की संख्या उल्लिखित है, उसमें जो वर्ण परिवर्तित हैं वे आज व्यक्तदशा (लोक)में हैं ऐसा मानकर के अलौकिकदशा (अव्यक्तदशा) में भी कुछ प्राकृतवर्ण हो- ऐसा मानने में किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिये- क्योकि परिवर्तित वर्ण जिस-किसी मूलवर्ण से परिवर्तित हैं वे मूलवर्ण प्राकृतवर्णावली में सहजतया आ ही जायेंगे। यथा ऋ प्राकृतवर्णावली में लौकिकदृष्ट्या नहीं है, क्योंकि वह अ/इ/उ में बदला हुआ दिखता है परंतु, अलौकिकदृष्टि से तो वह ऋ ही है तब, उसे भी वर्णसंख्या में गृहीत समझना चाहिये। तब धवलाकार आचार्य वीरसेन तथा पाणिनी के उद्धरण सत्यता में उतरेंगे।

इससे तो प्राकृतवर्णों की संख्या संस्कृतभाषावर्णों जितनी हो जायेगी, उससे कम तो कतई नहीं होगी। इससे प्राकृत की व्याप्ति संस्कृतादिक्षेत्र में भी सर्वतो दूर फैलेगी और ऐसा इतिहास भी रहा है।

अब रही बात कि क्या ६४ वर्ण प्राकृत में किसी साहित्यिक ग्रंथ में कहीं मिले हैं? तो इसका उत्तर है- जो वर्ण स्वयं का अन्यवर्ण में परिवर्तन कराके अव्यक्तदशा में है उनको प्राकृतसाहित्य में दिखाना असम्भव है, लेकिन अव्यक्तरूप से वे प्राकृत में है- ऐसा मानना चाहिए।

आचार्य पाणिनी के अनुसार ६४ वर्ण कौनसे है? इसका उत्तर आचार्य पाणिनी पाणिनीयशिक्षा में अग्रिम पद्य[6] में लिखते हैं। एतदनुसार-

स्वर	२०+लृकार+प्लुतवर्ण	२२ स्वरवर्ण
स्पर्शवर्ण	कुचुटुतुपु वर्ग के ५x५	२५ स्पर्शव्यञ्जनवर्ण
यादि वर्ण	य व र ल ष श स ह	०८ व्यञ्जनवर्ण
अनुस्वारो विसर्गश्च (०८)	जिह्वामूलीयविसर्ग (क, ख आश्रित=०२) +उपध्मामूलविसर्ग (प, फ आश्रित=०२) +जिह्वामूलीय अनुस्वार(क, ख आश्रित=०२) +उपध्मामूलअनुस्वार(प, फ आश्रित=०२)=०८	०८ व्यञ्जनवर्ण
	एकूण वर्णसंख्या=	**६३** संस्कृत वर्णसंख्या
दुःस्पृष्ट (०१)	च्छान्दस्भाषाप्रयुक्त ळवर्ण	०१
ळ का प्रयोग केवल वैदिकसंस्कृत में माना जाने से वर्ण संख्या में इसे ग्रहण करने के पक्ष में वर्ण संख्या=६४ तथा अभावपक्ष में ६३ मानी जाती है।		**६३+दुःस्पृष्ट(०१)=६४**

आचार्य वीरसेन पाणिनी के उत्तरवर्ती आचार्य हैं, इसलिए आचार्य वीरसेन द्वारा धवलाटीका ग्रन्थ में उल्लिखित ६४ वर्णों का ब्यौरा भी आचार्य पाणिनी की तरह हो सकता है, अंतिम निष्कर्ष तो साहित्यसंशोधन के पश्चात् ही कहा जा सकता है।

अतः निष्कर्ष है कि विशेषतः प्राकृतभाषाओं में भी सर्वसाधारणतया ६३/६४ वर्ण मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

सन्दर्भ सूची

१. पाणिनीय शिक्षा, ३
२. धवला टीकाग्रन्थ-१३, पृ.२४७
३. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, तृतीयभाग
४. त्रिषष्टिश्चतुषष्टिर्वा वर्णा सम्भवतो मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयम्प्रोक्ता स्वयंभुवा।। (पा.शि.३) **तथाच,** तेत्तीस वेंजणाइं सत्त्वावीसा हवंति सव्वसरा। चत्तारि अजोगवहा एवं चउसट्ठि वण्णाओ।। (धवला पुस्तक-१३, पृ.२४७)
५. तेन ऋ ॠ ऌ ऐ औ ङ ञ श ष-विसर्जनीयप्लुतवर्ज्यो वर्णसमाम्नायो लोकाद् अवगन्तव्यः। (हे प्रा.व्या.(वृत्ति) ८.१.)
६. स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः।। अनुस्वारो विसर्गश्च क पौ चापि पराश्रितौ। दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च।। (पा.शि.४-५)

❖❖

अनित्य-भावना

''नलिनी-दलगत-जलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।
क्षणमपि सज्जन-संगतिरेका भवति भवार्णव-तरणे नौका॥''

–आद्य शंकराचार्य, मोहमुद्गर, 7

अर्थ– जैसे कि कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ जलबिन्दु अत्यधिक चंचल, अस्थिर होता है; उसीप्रकार यह जीवन भी अत्यन्त चपल (क्षणभंगुर या विनाशशील) है। ऐसी विषमता में भी यदि कोई व्यक्ति क्षणभर के लिए भी सज्जन की संगति करता है, तो वह उसे संसाररूपी समुद्र से पार उतरने के लिए नौका के समान सहायक सिद्ध होती है। ◆◆

व्याकरण-शास्त्र का महत्त्व

''न्यायशास्त्र और व्याकरणशास्त्र पढ़ने वालों की भी 'तेली का बैल, चिल्लाता हुआ मेंढ़ा' आदि दृष्टान्तों द्वारा खिल्लियाँ उड़ाई जाती थीं; किन्तु ये सब मूर्खता के युग अब नहीं रहे हैं। विचारवान् परीक्षक उक्त उपहासों से नहीं घबड़ा कर बहुत कुछ आगे बढ़ गये हैं और अपना ध्येय भी प्राप्त कर लिया है।''

–पं. माणिकचंद्र कौन्देय, न्यायाचार्य, धर्मफल सिद्धान्त, पृष्ठ 35

भोजन में शुद्धता का जैनाचार

—आदीश कुमार जैन*

आज कोरोना के चलते खान-पान और शुद्धता की चर्चा जोरों पर है। अच्छे स्वास्थ्य और बीमारियों से बचने के लिए वनस्पति आधारित और शाकाहारी भोजन का महत्त्व सारा विश्व समझ रहा है, और कुछ जाने-माने रेस्टोरेंट भी अब वनस्पति आधारित और शाकाहारी भोजन परोसने लगे हैं। लेकिन इसके साथ साथ खान-पान में शुद्धता अर्थात हाइजीन का भी अपना विशेष महत्त्व है। जैनाचार में खान-पान की शुद्धता (हाइजीन) की भी सटीक वैज्ञानिक व्याख्या है। जैन रसोई में 'सोला का भोजन' शब्द प्रयोग किया जाता है, ये न तो केवल नाम है और न ही कोई रूढ़िवादी परम्परा है, इसमें शुद्धता के ठोस वैज्ञानिक आधार हैं। शुद्धता के दृष्टिकोण से सोला के भोजन की व्यवस्था समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सोला का अर्थ है सोलह और ये शुद्धता के सोलह नियम हैं। भोजन की पूर्ण शुद्धता के लिए ये नियम चार वर्गों में विभाजित हैं जो इस प्रकार हैं–

1. द्रव्य शुद्धि, 2. क्षेत्र शुद्धि, 3. काल शुद्धि, 4. भाव शुद्धि –इन चारों वर्गों में चार चार नियम हैं, इस प्रकार कुल सोलह नियम हैं।

1. द्रव्य शुद्धि-

अन्न शुद्धि– खाद्य सामग्री सड़ी गली घुनी एवं अभक्ष्य न हो।

जल शुद्धि– जल जीवानी (छाना) किया हुआ और प्रासुक (कुनकुना) हो।

अग्नि शुद्धि– ईंधन देख शोध कर उपयोग किया गया हो।

कर्त्ता शुद्धि– भोजन बनाने वाला स्वस्थ हो। स्नान करके, धुले शुद्ध वस्त्र पहने हों, नाखून बडे न हों, अंगुली वगैरह कट जाने पर खून का स्पर्श खाद्य वस्तु से न हो, गर्मी में पसीने का स्पर्श न हो, पसीना खाद्य वस्तु में ना गिरे।

*44, विज्ञान विहार, दिल्ली-110092 मोबाईल : 9811884592

2. क्षेत्र शुद्धि-

प्रकाश शुद्धि– रसोई में समुचित सूर्य का प्रकाश रहता हो।

वायु शुद्धि– रसोई में शुद्ध हवा का संचार हो।

स्थान शुद्धि– रसोई लोगों के आवागमन का सार्वजनिक स्थान न हो।

दुर्गंध शुद्धि– हिंसादि कार्य न होता हो और गंदगी से दूर हो।

3. काल शुद्धि-

ग्रहण काल– चंद्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण के काल में भोजन न बनाया जाय।

शोक काल– शोक दुःख अथवा मरण के समय भोजन न बनाया जाय।

रात्रि काल– रात्रि के समय भोजन नहीं बनाना चाहिए।

प्रभावना काल– धर्मप्रभावना अर्थात् उत्सवकाल में भोजन नहीं बनाना चाहिए।

4. भाव शुद्धि-

वात्सल्य भाव– पात्र और धर्म के प्रति वात्सल्य होना चाहिए।

करुणा भाव– सब जीवों एवं पात्र के ऊपर दया का भाव रखना चाहिए।

विनय भाव– पात्र के प्रति विनय का भाव होना चाहिए।

दान भाव– दान करने का भाव रहना चाहिए।

इन सोलह नियमों में हाइजीन की कई बातों की वैज्ञानिकता तो लोगों की समझ में आ जाती हैं, लेकिन उनकी तार्किक सोच केवल द्रव्यशुद्धि और क्षेत्रशुद्धि तक ही सीमित रह जाती है। जबकि पूर्ण शुद्धता के लिए कालशुद्धि और भावशुद्धि भी उतने ही जरूरी हैं। कालशुद्धि का वैज्ञानिक आधार बॉडी क्लॉक और खाद्य पदार्थों की काल के अनुसार बदलती तासीर से जुड़ा है। भावशुद्धि का वैज्ञानिक आधार भावनाओं के बायोलॉजिकल सिग्नल्स में निहित है। इन सिग्नल्स शुद्धि के स्वास्थ में महत्त्व का आकलन अब वैज्ञानिक भी करने लगे हैं। भोजन की शुद्धि के लिए इन सोलह नियमों के पालन की व्यवस्था ही विशुद्ध सोला के भोजन का जैनाचार है जो अच्छे स्वास्थ के लिए उपयोगी है।

साधु-साध्वियों की आहारचर्या में तो इन नियमों का पूर्ण पालन आवश्यक है ही, कई जैन गृहस्थ भी अपने रोजमर्रा के जीवन में भी इनका पूर्ण या आंशिक पालन करने में प्रयासरत रहते हैं और इसीलिए वे पार्टियों, रेस्टोरेंट में खानपान से परहेज करते हैं।

❖❖

सल्लेखना में निर्यापकाचार्य की भूमिका

—रचना जैन*

भारतीय संत परंपरा में मृत्यु के भय को कोई स्थान नहीं है, उसमें भी जैन दर्शन में तो साधक सदैव मृत्यु के आमंत्रण को स्वीकार करने वाला होता है। वह मृत्यु से भयभीत नहीं होता, वरन् हमेशा यही भावना भाता है कि मेरे जीवन का अंत समाधिमरण के साथ हो। वह अपना शौर्य और धैर्य दोनों साथ रखकर अपनी साधना को बढ़ाता चला जाता है।

जैन दर्शन में गृहस्थों के लिये 12 व्रत एवं मुनिराजों के लिए 28 मूलगुणों के पालनरूनप आचार-संहिता मिलती है। आचार-संहिता में अनेक प्रकार के व्रत-नियमों का संकल्प किया जाता है, जिनकी अंतिम परिणति सल्लेखना होती है।

सल्लेखना से आशय

सल्लेखना शब्द सत्+लेखना से मिलकर बना है। जिसमें सत् अर्थात् सम्यक् प्रकार से लेखना अर्थात् कृश या क्षीण करना। इस प्रकार काय और कषाय को सम्यक् प्रकार से कृश करना या क्षीण करना सल्लेखना है।[1]

एक अन्य विद्वान का मत है "जिसका बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा हो, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा हो और रोगादिक के प्रतीकार करने की शक्ति नष्ट हो गई हो, वह शरीर विवेकवान व्यक्तियों को समाधिमरण धारण करने के लिए संकेत करता है।"

सल्लेखना ग्रहण के कारण

जैन साधक शरीर के अनुकूल रहने तक अपनी धर्मसाधना करते हैं एवं उसके माध्यम से मोक्षमार्ग प्रशस्त करते हैं, परंतु कथंचित शरीर नाश का अपरिहार्य कारण उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा या रोग उपस्थित हो जाए और प्रयत्न करने पर भी उसका

*शोधछात्रा, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) मोबाईल : 9589936517 ई-मेल : rjsgr07@gmail.com

प्रतीकार संभव न तो जैन परंपरा में धर्म की रक्षा के लिए शरीर एवं कषाय के त्याग रूप सल्लेखना का विधान किया गया है।

सल्लेखना ग्रहण की विधि

सल्लेखना की यह विशेषता होती है कि वह प्रायः स्वयं नहीं ली जाती, गुरु से माँगी जाती है। साधक की आयु जब पूर्णता की ओर होती है तब वह योग्य आचार्य महाराज की चरणनिश्रा में पहुँचकर अनुनय-विनय करता है, कि भगवन! अब यह देह साधना में सहायक नहीं हो रही है और न ही संयम का निर्मल पालन हो पा रहा है, अतः आत्मधर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना व्रत प्रदान करें।

निर्यापकाचार्य का स्वरूप

सल्लेखना कराने वाले गुरु को निर्यापकाचार्य की संज्ञा दी जाती है, जबकि सल्लेखना धारक को क्षपक की। सल्लेखना में निर्यापकाचार्य का विशेष महत्त्व रहता है। इसमें आचार्य के मूल गुणों के साथ एक विशेष विधि की भी दक्षता होती है। इसलिए विद्वानों ने कहा है कि एक से बारह वर्षों तक, सात सौ से भी अधिक योजन तक विहार करके यदि योग्य निर्यापकाचार्य को खोजा जा सके तो अवश्य खोजना चाहिए।[2]

क्षपक को सल्लेखना कराने वाला आचार्य आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान और उत्पीड़क होता है। इसके अतिरिक्त निर्यापक अपरिस्रावी, प्रसिद्ध, कीर्तिवान और निर्यापकाचार्य के गुणों से पूर्ण होना चाहिए। जो आचार्य स्वयं पंचाचार में तत्पर रहते हैं, अपनी सभी चेष्टायें समितियों के अनुसार ही करते हैं वे क्षपक को निर्दोष चर्या तथा पंचाचार में प्रवृत्त करा सकते हैं।

सल्लेखना-विषयक ग्रंथों में निर्यापकों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार हैं[3]–

1. **पियधम्मा–** निर्यापक धर्मप्रिय होना चाहिए। यहाँ धर्म का अर्थ सम्यक् चारित्र है, जो सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन पर अवलंबित होता है।
2. **दृढ़धम्मा–** निर्यापक की धर्म में दृढ़ता व स्थिरता होना आवश्यक है। दृढ़ चारित्र वाले निर्यापक ही क्षपक के असंयम का परिहार कर सकते हैं।
3. **संविग्गा–** निर्यापक का तीसरा गुण संवेग है। संवेग अर्थात संसारभीरुता। निर्यापक के संवेगात्मक व्यक्तित्व और विचारों का क्षपक पर गहरा असर होता है।
4. **वज्जभीरुणो–** निर्यापक पापों से डरने वाला हो। अभय और मुक्ति की

निर्दोष आराधना के लिए पापभीरुता आवश्यक है।

5. **धीरा–** निर्यापक धृतिमन्त और धैर्यवान् होना चाहिए। कारण कि जो व्यक्ति स्वयं कष्टसहिष्णु है, वह दूसरों को भी साहस दे सकता है।
6. **छंदण्हू–** निर्यापक अभिप्राय को समझने वाला होना चाहिए। इसी गुण के कारण वह क्षपक के संकेतों और उसकी जरूरतों को समझ पाएगा। और तदनुरूप उसकी वैयावृत्ति व सेवा सुश्रूषा कर पाएगा।
7. **पच्चइया–** निर्यापक का विश्वसनीय होना आवश्यक है। इसके अभाव में क्षपक के संयम की सुरक्षा कठिन हो जाती है।
8. **पच्चक्खाणम्मि–** निर्यापक प्रत्याख्यान के क्रम को जानने वाला होना चाहिए। जो निर्यापक साकार व निराकार प्रत्याख्यान के क्रम को जानता है, वह क्षपक की आराधना को विधि-विधानपूर्वक निर्दोष रीति से कर सकता है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त श्रेष्ठ निर्यापक के संरक्षण में जो क्षपक सल्लेखना लेता है उसे चारों प्रकार की आराधनाओं तथा आत्मशुद्धि आदि गुणों की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त योग्यायोग्य आहार के जानने में कुशल, क्षपक के चित्त को प्रसन्न रखने वाला, प्रायश्चित्त ग्रंथ के रहस्य को जानने वाला, आगमज्ञ, स्व-पर के उपकार करने में तत्पर, ज्ञानी, योग्य, निर्यापक हो सकता है। आगम में निर्यापकों की अधिकतम संख्या 48 एवं न्यूनतम 2 प्राप्त होती है।

48 मुनि क्षपक की इस प्रकार सेवा करते हैं। चार मुनि क्षपक को उठाने-बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करते हैं। चार मुनि धर्म-श्रवण कराते हैं। चार मुनि भोजन और चार मुनि पान कराते हैं। चार मुनि देखभाल करते हैं। चार मुनि शरीर के मल-मूत्रादि-क्षेपण में तत्पर रहते हैं। चार मुनि वसतिका के द्वार पर रहते हैं, जिससे आगंतुक क्षपक के परिणामों में क्षोभ उत्पन्न न कर सकें। चार मुनि क्षपक की आराधना को सुनकर आये लोगों को सभा में धर्मोपदेश द्वारा संतुष्ट करते हैं। चार मुनि रात्रि में जागते हैं। चार मुनि देश की ऊँच-नीच स्थिति को जानने में तत्पर रहते हैं। चार मुनि आगंतुकों से बातचीत करते हैं और चार मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की संभावना से आये लोगों से वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करते हैं।[4]

क्षपक का स्वरूप

सल्लेखना के योग्य व्यक्ति का कथन करते हुये आचार्य शिवार्य लिखते हैं– जिसके दुःसाध्य व्याधि हो, श्रामण्य की योग्यता को हानि पहुँचाने वाली वृद्धावस्था

हो अथवा देव-मनुष्य या तिर्यंचकृत उपसर्ग हो तो वह व्यक्ति भक्तप्रत्याख्यान करने के योग्य है।

अनुकूल बंधु या प्रतिकूल शत्रु जब चारित्र का विनाश करने वाले बन जायें, भयानक दुर्भिक्ष में आहारादि का मिलना असंभव हो, उदाहरणार्थ श्रुतकेवली के समक्ष उत्तरभारत में जब 12 वर्ष का अकाल पड़ा था तब भद्रबाहु संघसहित दक्षिण भारत चले गये थे।

भयंकर जंगल में भटकने पर जहाँ जीवन-रक्षा असंभव हो। विशल्या का जीव अनंगशरा की पर्याय में अपहरण के कारण घोर जंगल में भटक गया, तब जीवन रक्षा का कोई उपाय न देख उसने सल्लेखना धारण की थी।[5]

इसी प्रकार यदि समाधिमरण कराने वाले निर्यापक भविष्य में सुलभ है, किसी दुर्भिक्ष का भय नहीं है अथवा किसी अपरिहार्य घटना की संभावना नहीं है तो यह सल्लेखना के योग्य अवसर नहीं है।

निर्यापकाचार्य के कर्त्तव्य

सल्लेखना के प्रति उत्साहित क्षपक को स्वीकारने के बाद आचार्य का यह दायित्व हो जाता है कि क्षपक को जैसे भी हो, सल्लेखना में स्थिर रखें। उसके भाव एवं भव सुधारने का प्रयत्न करें।

भगवती आराधना ग्रंथ में आचार्य शिवार्य ने निर्यापकों के कर्त्तव्यों का विस्तृत विवेचन किया है–

1. निर्यापक क्षपक के परिणामों को निरन्तर शुद्ध बनाये रखने का प्रयत्न करें।[6]
2. निर्यापक विधिपूर्वक क्षपक का समाधान करें, धर्मोपदेश से उपकृत करें, ताकि क्षपक ध्यान की ओर आकृष्ट हो।[7]
3. प्रायश्चित्त देने में कुशल, आगम में निपुण, धीर आचार्य मध्यस्थ होकर ही प्रायश्चित्त दें, जिससे क्षपक ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि कर सके।[8]
4. आचार्य स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही, सुखकर वचनों से एकांत में क्षपक से दोषों को कहलवाये।[9]
5. निर्यापक क्षपक को प्रिय स्निग्ध, मधुर, अर्थ से गंभीर, वचनों एवं मन को प्रसन्न करने वाली, कर्ण-सुखद कथाओं से सदैव जाग्रत रखें।[10]
6. आचार्य क्षपक के उत्साह की एवं परपदार्थों के प्रति लोलुपता की निरंतर परीक्षा करता रहे।[11]
7. यदि किसी कमी से या प्रमाद के कारण क्षपक मर्यादा छोड़ने की इच्छा

करता है, तब आचार्य संतोषपूर्ण वचनों से, कषाय-रहित होकर क्षपक को शांत करने का प्रयास करते हैं।

निर्यापकाचार्य प्राचीन काल की भाँति वर्तमान में भी सुलभ होते हैं। जैसे कि जैन जगत में आचार्य विद्यासागर जी का नाम शिरोमणि निर्यापकाचार्य के रूप में प्रसिद्ध है। आपके निर्देशन में अनेकानेक साधु-साध्वियों ने सल्लेखना धारण की है। आपको सर्वप्रथम अपने गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी की सल्लेखना कराने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त के अलावा अन्य अनेक साधु साध्वियों, ऐलक, क्षुल्लक एवं श्रावकों ने आचार्य श्री के निर्देशन में सल्लेखना ग्रहण की है। यथा– मुनि पवित्र सागर जी, मुनि पार्श्वसागर जी, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी, चंद्रसागर जी, समाधिसागर जी इत्यादि अनेक नाम इस सूची में शामिल हैं, परंतु विस्तारभय से सभी का उल्लेख संभव नहीं है।

इसी शृंखला में आचार्य वर्धमानसागर जी, आचार्य विरागसागर जी, आचार्य सुनीलसागर जी इत्यादि अनेक महान संत हैं जो अपने समीप आने वाले साधकों को सल्लेखना व्रत प्रदान करते हैं एवं उनके मोक्षमार्ग को प्रशस्त करते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. सम्यग्कायकषाय लेखना सल्लेखना। –सवार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद, 7/22/705
2. भगवती आराधना, आचार्य शिवार्य, सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, गाथा 403, 404
3. भगवती आराधना की विजयोदया टीका, आचार्य अपराजितसूरि, सम्पादक पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, गाथा 646
4. भगवती आराधना, गाथा 662-673
5. पद्मपुराण, आचार्य रविषेण, पर्व 64, श्लोक 79
6. भगवती आराधना, गाथा 430
7. वही 443
8. वही 453, 456
9. वही 479
10. वही 503, 504
11. वही 517, 518

❖❖

कर्त्तव्यबोध

'तत्कर्म पुरुषः कुर्याद्, येनान्ते सुखमेधते।' –(नैषधचरित)

अर्थ– मनुष्यों को वह कार्य करने चाहिए, जिससे अन्त में सुख-शांति मिले।

जैनदर्शन की संचार दृष्टि

(समयसार गाथा 5 की टीका के विशेष संदर्भ में)

—अंकुर जैन*

संचार मानव की मूलभूत आवश्यकता है। कहते हैं कि इस चराचर जगत में प्रकृति का कण-कण, प्रत्येक प्राणी परस्पर संचार या संप्रेषण करता है। संचार जीवंत होने का प्रमाण है। बिना संचार के जीवन की कल्पना ही संभव नहीं है। वैज्ञानिक मान्यता है कि हमारे शरीर में पाई जाने वाली लाखों कोशिकाएँ परस्पर एक-दूसरे में संचार कर रही हैं, जिस दिन यह संचार बंद हो जाता है, उसी दिन व्यक्ति मृत घोषित कर दिया जाता है। तो इस तरह हम देखते हैं कि संचार प्राणी की अहम् आवश्यकता होने के साथ-साथ जीवित होने का प्रमाण भी है।

ऐसे में यह जरूरी हो जाता है कि विश्व में जीवन के पर्याय संचार को संकुचित अर्थों में नहीं देखा जाना चाहिये, बल्कि इसे व्यापक संदर्भों और विस्तृत दृष्टिकोण के साथ समझा जाना चाहिये। संचार-विशेषज्ञ मानते भी हैं कि संचार से आशय महज इसके माध्यमों; जैसे– टीवी, अखबार, भाषा, टेलीफोन, रेडियो, इंटरनेट जितना नहीं है, बल्कि संचार से आशय उस व्यापक क्षेत्र से है जो इन माध्यमों का भी आधार बनता है। इस परिभाषा से पता लगता है कि संचार-विशेषज्ञों ने माध्यमों से ज्यादा विचार के उस विस्तृत और व्यापक क्षेत्र को संचार की धुरी माना है जो प्राणीमात्र के अवचेतन में गहरे तक पैठे हुए हैं। ज्ञान ही संचार का मूल आधार है।

जैन आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार ग्रंथ की टीका में इसे कुछ इस तरह से अभिव्यक्त किया है–

---

*शास्त्री, एम.एससी, एम.फिल (जनसंचार) एम.ए (एजुकेशन), आलेख संपादक, दूरदर्शन केन्द्र, भोपाल, मध्य प्रदेश, मोबाईल : 9893408494

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥

अर्थात् निश्चय से आत्मा ज्ञानस्वरूप है ज्ञान आत्मस्वरूप है। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त और करता ही क्या है? जो आत्मा को परभावों का कर्ता कहा जाता है वो व्यवहारनय का कथन है।

इस तरह ज्ञान एवं विचार के व्यापक जगत को ही जीव की मुख्य धुरी माना है और संचार इस ज्ञान की ही एक अवस्था अथवा पर्याय है जो कतई जीव के कार्य से भिन्न नहीं है। लेकिन समस्या यह है कि दुनिया में संवाद को ही संचार मान लिया जाता है, किंतु ऐसा एकदम नहीं है।

संचारशास्त्रियों ने संप्रेषण दो प्रकार का बताया है– अशाब्दिक संचार और शाब्दिक संचार। इससे पता चलता है कि जो ध्वनि और शब्दों आदि के माध्यम से मुख से बाहर आता है वह तो संचार है ही, किंतु जो मुखर नहीं होता और विचार या भावनाएँ बनकर हमारे मन-मस्तिष्क में उमड़ता-घुमड़ता रहता है वह भी संचार ही है। कहा जाता है कि अशाब्दिक संचार का दायरा बहुत बड़ा है, जबकि शाब्दिक संचार बहुत सीमित और कम प्रभावी है।

संचार क्रिया में प्रतिभागिता के आधार पर भी इसके चार भेद किये गये हैं–

1. अन्तःवैयक्तिक संचार या स्वसंचार (Intrapersonal or Self Communication)
2. अन्तरवैयक्तिक संचार (Interpersonal Communication)
3. समूह संचार (Group Communication)
4. जनसंचार (Mass Communication)

इनमें स्वसंचार को ही समस्त संचारों का जनक कहा जाता है और सारे संचार स्वसंचार पर आकर ही संपन्न हो जाते हैं। क्योंकि दो व्यक्तियों के बीच संवाद हो, समूह में संवाद या चर्चा हो अथवा बिखरे हुये जनसमूह से चर्चा हो सभी में प्रथमतः स्वसंचारित होना जरूरी है और अंततः सामने वाले श्रोता-पाठक-दर्शक को भी स्वसंचारित करना जरूरी है।

इसका क्रमिक मॉडल कुछ इस तरह बनता है– संचारक/वक्ता –संदेश/वक्तव्य –माध्यम –श्रोता/ग्रहीता – प्रभाव/प्रतिपुष्टि

इसमें हम देखते हैं कि अंतिम गंतव्य तक पहुँचते तक संचारक्रिया पुनः स्वसंचार का रूप ले लेती है और इस स्वसंचार के लिये जरूरी है– स्वयं का अध्ययन, ध्यान, धारणा, चिंतन, मनन इत्यादि। तथा स्वसंचार की अधिकांश क्रिया अशाब्दिक ही होती है। इससे एक बात समझ लेना चाहिये कि सिर्फ शब्द, संवाद, चर्चा-

वार्ता इत्यादि ही संचार नहीं है, बल्कि संचार वह क्रिया है जो कि तब तक है जब तक कि जीव/प्राणी की सत्ता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात इस प्रकरण के संबंध में कह देना जरूरी है कि दुनिया में समस्त विचार, मान्यता या धर्म का जन्म स्वसंचार (Self Communication) से होता है और उनका प्रचार जनसंचार (Mass & Communication) से होता है। जैसे– भगवान महावीर ने 12 वर्षों तक तपश्चरण कर स्वानुभूति, स्वरूप में स्थिरता प्राप्त की, जो कि स्वसंचार का उदाहरण है। पश्चात केवलज्ञान होने पर समवशरण की रचना हुई, जिसमें खिरी हुई दिव्यध्वनि से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन हुआ जो कि जनसंचार का उदाहरण है। आराधना करना स्वसंचार है और प्रभावना होना जनसंचार है। वास्तव में आराधनापूर्वक ही प्रभावना हो सकती है।

संक्षेप में इस संचार के आंतरिक स्वरूप पर चर्चा करने के बाद हम अब इसके प्रभावी बाहरी स्वरूप पर चर्चा करते हैं और जैनदर्शन, जैनाचार्यों की संचार दृष्टि को समझने की कोशिश करते हैं। जैसा कि संचार के बाहरी स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा जाता है कि विचारों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया को संचार कहते हैं। तो किस तरह से इन विचारों का आदान-प्रदान प्रभावी ढंग से किया जा सकता है, इस पर जैन दर्शन, जैन न्याय में क्या शैली अपनाई गई है, किस तरह की विवेचनात्मक दृष्टि जैनाचार्यों की दिखती है– इस पर हम विचार करते हैं, क्योंकि यदि प्रभावी एवं तार्किक ढंग से अपनी बात आगे न बढ़ाई जाये तो धर्मतीर्थ की परंपरा को आगे बढ़ा पाना संभव नहीं है।

इस संबंध में आचार्य कुंदकुंद के समयसार की पाँचवीं गाथा दृष्टव्य है, जिसमें आचार्यदेव प्रभावना के कार्य में या कहें निज अनुभूति के संप्रेषण में अपनी संपूर्ण ताकत लगाते हैं और अपने समस्त निजवैभव से उस तत्त्व को दिखाना चाहते हैं जो उन्होंने स्वयं अनुभव किया है। अपनी अनुभूतियों को शब्दों में पिरोने के लिये और उसका बेहतर संप्रेषण करने के लिये जो शैली और विधि उन्होंने अपनाई है, वो सभी के लिये आदरणीय और अनुकरणीय है।

पहले आचार्य कुंदकुंद की समयसार की वह पाँचवीं गाथा मूलतः देखते हैं–

तं एयत्तविहत्तं दाएहं, अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥

अर्थ– मैं उस एकत्वविभक्त भगवान आत्मा को अपने निज वैभव से दिखाऊंगा (जिसका अनुभव आचार्य ने स्वयं ने किया है)। यदि मैं दिखाऊं (अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति में सफल होऊं) तो उसे प्रमाण करना और यदि चूक जाऊं (कदाचित्

संचारक और ग्रहीता के बीच संप्रेषण-क्रिया की बाधाएं निर्मित होने पर) तो छल ग्रहण मत करना।

आचार्य यहाँ निजवैभव, अपनी समस्त शक्ति लगाकर अपने उस अनुभूत तत्त्व को दिखाना चाहते हैं जिसे वे मानते हैं कि इस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की अनुभूति ही जगत के दुखों को दूर कर सकती है। विचारणीय ये है कि दिगंबर संतों का निजवैभव रुपया, पैसा, जमीन, जायदाद आदि तो होंगे नहीं। ऐसे में उनकी शक्ति, उनका समस्त वैभव क्या है जिसे समर्पित कर वे उस अनुभूत तत्त्व को अभिव्यक्त कर रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के निजवैभव का जन्म कैसे हुआ है, इसका समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति टीका लिखने वाले आचार्य अमृतचंद्र इसप्रकार उल्लेख करते हैं कि उसे हम चार बिन्दुओं में देख सकते हैं–

1. सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा।
2. समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा।
3. निर्मलविज्ञानघनांतनिर्मग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा।
4. अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा।

अर्थात्–

1. स्यात् पद से मुद्रित शब्दब्रह्म (परमागम) की उपासना से निजवैभव का जन्म हुआ है।
2. समस्त विपक्षी अन्यवादियों द्वारा गृहीत एकान्तपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्तियों के अवलंबन से निजवैभव का जन्म हुआ है।
3. निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्मग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव, अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यंत समस्त आचार्य परंपरा के प्रसाद से प्राप्त शुद्धात्मतत्व के उपदेशरूप अनुग्रह से उसका जन्म हुआ है।
4. और निरन्तर झरते हुए, स्वाद में आते हुए आनन्द की मुद्रा से युक्त स्वसंवेदन से निजवैभव का जन्म हुआ है।

इन बिन्दुओं में अभिव्यक्ति की उचित शैली के लिये संचारक की पात्रता और गुणवत्ता दोनों को देखा जा सकता है। सिर्फ शब्द मिल जाना, बोलना आ जाना, लिखना आ जाना अथवा कहने के लिये कुछ कह देना; यह संचार नहीं है। संप्रेषण करने के लिये जो विशेषता होना चाहिये वह ध्यान में रखना जरूरी है। जब वह विशेषता हमारे कहे या लिखे गये शब्दों के पीछे होती है, तभी वास्तव में वे अर्थपूर्ण होते हैं, उनमें वजन होता है और वह अन्य के लिये कार्यकारी होते हैं।

आचार्य के निजवैभव में संचार-कौशल की चार मुख्य विशेषता परिलक्षित होती हैं–

1. अभ्यास
2. तर्क अथवा एकान्त (मिथ्यापक्ष) के निराकरण में समर्थ युक्ति
3. गुरुप्रसाद अथवा उपदेश (गुरुओं के प्रति विनयवंतता)
4. अनुभव

यदि हम हमारे संप्रेषण में इन चार विशेषताओं को डालते हैं तो निश्चित ही वह भी सार्थक और अधिक प्रभावी बन पड़ता है। लेकिन देखने वाली बात यह भी है कि इन विशेषताओं के बावजूद आचार्य यह दंभ नहीं पालते कि मैं अपनी बात अन्य तक पहुँचा ही दूँगा, कोई बात समझ में आना न आना –यह अन्य की स्वयं की प्रज्ञा पर निर्भर है। ऐसे में आचार्य एक निवेदन जरूर ग्रहीता या अपने पाठक से कर लेते हैं कि यदि वे अपनी बात अन्य तक पहुँचा दें तो उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष से स्वयं प्रमाण करना, लेकिन किन्हीं वजहों से यदि वे अपना मंतव्य अन्य तक न पहुँचा सकें तो कुछ अन्य, मिथ्या अर्थ लेकर छलग्राही न बनना।

आचार्य जब कहते हैं कि चूक जाऊँ तो इसका मतलब यह नहीं कि वे अपने प्रतिपादित विषय में असक्षम हैं या उन्हें स्वयं अपने विषय का निर्धार नहीं है। चूकने का कारण संचार की कुछ अन्य बाहरी बाधाएँ हो सकती हैं जो कि संचारक और ग्रहीता के मध्य भावनात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक भिन्नताओं की वजह से बनती हैं।

संचारशास्त्री संप्रेषण क्रिया की कुछ प्रमुख बाधाएँ निम्न प्रकार बताते हैं–

1) अपरिचित शब्दावलियाँ (Unfamiliar Terms)
2) भावनात्मक भिन्नताएँ (Emotional Barrier)
3) दृष्टिकोण की भिन्नताएँ (Difference in Perception)
4) इन्द्रियगत असक्षमता, सुनने-देखने आदि में परेशानी (Physical Barriers)
5) भाषागत अंतर (Language Differences)
6) पूर्वाग्रह (Prejudices or Stereotype Nature)
7) सांस्कृतिक भिन्नताएँ (Cultural Differences)

इस तरह हम देखते हैं कि उक्त बाधाओं के चलते आचार्य अपना मंतव्य दूसरों तक न पहुँचा सकें– ऐसी संभावना बन सकती हैं, लेकिन उसमें आचार्य

का उद्देश्य कतई गलत नहीं है। वे जीवमात्र के प्रति वात्सल्य और उसके हित की भावना से भरे हुए हैं। ऐसे में कदाचित् चूकने की दशा में वे छल ग्रहण न करने का आग्रह करते हैं।

इस गाथा में हम समस्त जैनागम, जैनदर्शन की संचार-शैली को देखते हैं। अनेकान्त-स्याद्वाद, प्रमाण-नय-निक्षेप आदि से वस्तु की सिद्धि, प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण की व्यवस्था, जीवमात्र के कल्याण की भावना, सर्वज्ञ से लेकर गणधर और आचार्य पर्यंत एक समृद्ध परंपरा, तर्क-युक्ति का प्रयोग, गहन अभ्यास और स्वानुभव; इन समस्त विशेषताओं को जैनागम, अनुयोगों में देखा जा सकता है। यही वजह है कि जैनआगम, जैनदर्शन के कथन पूर्वापरविरोध-रहित हैं और अधिक प्रामाणिक हैं। यहाँ स्याद्वाद शैली में अनेकान्तात्मक (अनेक गुण-धर्मों वाली) वस्तु का कथन है। कहा जाये तो तात्कालिक सत्य से सार्वकालिक-सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन है, लेकिन कहीं भी तात्कालिक सत्य वस्तु के समग्र प्रतिपादन का दंभ नहीं भरता।

'धवला' में कहा भी है–

जावदिया वयणपहा, तावदिया चेव होंति णयवादा।

अर्थात् जितने कथन हैं उतने नयवाद हैं और सभी कथन अपनी-अपनी अपेक्षा से देखने पर प्रामाणिक हैं। लेकिन ध्यान देने योग्य बात ये है कि किसी वस्तु में व्याप्त अनेक धर्मों में से एक का कथन करना नयवाद है, किन्तु जो धर्म उसमें है ही नहीं उनका कथन करना नय नहीं है। जो धर्म वस्तु में हो ही नहीं, उसे भी वस्तु में समाविष्ट करना मिथ्या अनेकान्त है। इसी तरह वस्तु में व्याप्त अनेक धर्मों में से किसी एक का ही हठ लेकर बैठ जाना वो एकान्त है, जिसके लिये जैनागम में कोई जगह है ही नहीं।

समयसार गाथा पाँच की टीका व्यवस्थित संचार-कौशल के साथ अपने अग्रिम विषय के प्रति पाठकों को सचेत करती है। इसमें निवेदन भी है, विषय की प्रामाणिकता का उद्घोष भी है और आचार्य की विनम्रता भी प्रतिपादित है। संचार प्रामाणिक, विनम्र, हठाग्रह-पूर्वाग्रह से रहित, तर्कपूर्ण और अनुभूत ही होना चाहिये। यह गुण समयसार ग्रंथ में तो है ही, लेकिन इसे समस्त जैनागम में भी देखा जा सकता है। जैनागम की यही प्रामाणिकता सर्वज्ञसिद्धि का आधार बनती है और उन सर्वज्ञ की सिद्धि में वस्तुस्वातंत्र्य, अकर्तावाद, क्रमबद्धपर्याय जैसे महान् सिद्धांतों का समावेश भी स्वयमेव हो जाता है। इन महान् सिद्धांतों का निर्णय आत्मानुभूति का कारण बनता है और आत्मानुभूति अनादिकाल के दुखों के मेटने में एकमात्र

सहायक है।

ज्ञान का बाह्य में वर्तने वाला संचार जब स्वयं में ही प्रतिष्ठित हो जाता है, जब परिणामों का संचरण स्वभाव की ओर हो जाता है तब यह जीव रत्नत्रय की उपलब्धि कर मुक्तिपुरी में जाकर समस्त संसार के दुखों से छूट जाता है। हमारा भी संचार बाहर से अंतर की ओर उन्मुख हो– इस भावना से इस लेख को यहीं विराम देता हूँ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, श्रीकांत, संप्रेषण व प्रतिरूप सिद्धांत, भारती पब्लिकेशन एवं डिस्ट्रीब्युटर्स
2. मेहता, आलोक, पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
3. चौपड़ा, लक्ष्मेन्द्र. जनसंचार का समाजशास्त्र, पंचकुला, आधार प्रकाशन, 2002
4. कुन्दकुन्द, आचार्य, समयसार, दि.जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 2016
5. स्वामी, वीरसेन, धवला, वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुर

❖❖

मंगलं भगवदो वीरो, मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुंदाइ, जेण्ह धम्मोत्थु मंगलं॥

तीर्थंकर महावीर एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ हैं जहाँ से निसृत अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की प्रकाश-किरणों ने विश्व-इतिहास को आलोकित किया है। ओजस्वी बचपन और तपस्वी यौवन के फलस्वरूप महावीर समता की भूमिका पर आरूढ़ होकर सामाजिक क्रान्ति के तेजस्वी अग्रदूत बने। महावीर ने मानव को पाशविक मनोवृत्तियों की दासता से निकाल कर नैतिक जागरण के पथ पर चलने को प्रेरित किया। वे तो आत्मानुभूति और समाज में आध्यात्मिक नैतिक मूल्यों के सृजन के जीते.जागते उदाहरण हैं। उनका सारा जीवन सामाजिक समस्याओं के स्थायी और आधारभूत हल को ढूँढ़ निकालने का संघर्ष था। महावीर इस बात को भलीभाँति जानते थे कि प्रत्येक कार्य के मूल में व्यक्ति होता है इसलिए सर्वप्रथम व्यक्ति को विकासोन्मुखी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। ◆◆

जिणपूया मुणिदाणं, करेदि जो देदि सत्तिरूवेण।
सम्मादिट्ठी सावय-धम्मी सो होदि मोक्ख-मग्ग-रदो॥

–आचार्य कुन्दकुन्द, रयणसार, 13

अर्थ— जो जिनदेव की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रावक है। वह मोक्षमार्ग में रत है। ◆◆

जैनशास्त्रों में मिथ्यात्व का स्वरूप

—प्रताप*

मिथ्यात्व शब्द के अनेक अर्थ प्रचलित हैं, जैसे– झूठमूठ, धोखा, गलत, अशुद्ध, विपरीत, निष्प्रयोजन, व्यर्थ, निष्फल, असत्य, अवास्तविक, छल, भ्रम, त्रुटि इत्यादि। मिथ्यात्व शब्द के इन विभिन्न समानार्थक शब्दों का प्रयोग यथाप्रसंग भिन्न-भिन्न देखने को मिलता है। शब्द सार्वजनिक व स्वतन्त्र होते हुए भी आधिकारिक एवं विषयाधीन होते हैं, जिस कारण उनके अर्थ में विशिष्टता एवं अर्थस्थैर्य का समावेश हो जाता है। तत्पश्चात् उन-उन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग विषय-वैविध्य के कारण विषयानुसार निश्चित हो जाता है। मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन शब्द भी जैनदर्शन का एक विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्द है। श्री जिनेन्द्र वर्णी लिखते हैं कि "स्वात्म तत्त्व से अपरिचित लौकिक जन शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदि में ही स्व व मेरापन तथा इष्टानिष्टपना मानता है और तदनुसार ही प्रवृत्ति करता है। इसीलिए उसके अभिप्राय या रुचि को मिथ्यादर्शन कहते हैं। गृहीत, अगृहीत, एकान्त, संशय, अज्ञान आदि के भेद से वह अनेक प्रकार का है। इनमें साम्प्रदायिकता गृहीत मिथ्यात्व है और पक्षपात एकान्त मिथ्यात्व है। सब भेदों में ये दोनों ही अत्यन्त घातक व प्रबल हैं।"[2]

मिथ्यादर्शन के लक्षण अनेक जैनाचार्यों ने किए हैं। भगवती आराधना[3] में आचार्य श्री शिवार्य ने लिखा है कि जो तत्त्वार्थों का अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है, उसके तीन भेद हैं। संशय से होने वाला मिथ्यात्व, अभिगृहीत मिथ्यात्व और अनभिगृहीत मिथ्यात्व। सर्वार्थसिद्धि[4] ग्रन्थ में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं कि मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान रूप परिणाम होता है, वह मिथ्यादर्शन है।

---

*सहायकाचार्य, जैनदर्शन विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर, भोपाल, मध्यप्रदेश, दूरवाणी– 9968171966 ई-मेल : pratap350@gmail-com

आचार्य माइल्लधवल विरचित णयचक्को[5] ग्रन्थ में लिखा है कि मिथ्यात्व के दो भेद हैं– एक मूढ़तारूप और दूसरा स्वभावनिरपेक्ष अर्थात् परोपदेशरूप। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव तत्त्व को विपरीत रूप से ग्रहण करता है अर्थात् वस्तु का जैसा स्वरूप है उससे विपरीत जानता है। जो द्रव्य में अस्तित्व को नास्ति स्वभाव सापेक्ष नहीं मानता और नास्तित्व को अस्तित्व स्वभाव सापेक्ष नहीं मानता, वह मूढ सर्वत्र मूढ ही है। मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने पर कर्म का क्षय आदि न कर सकने वाला मूढ मिथ्यादृष्टि भी शास्त्र आदि का निमित्त मिलने पर स्वभाव निरपेक्ष रूप से मिथ्यादृष्टि होता है।

नियमसार टीका तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने लिखा है कि भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्गाभास में मार्ग का श्रद्धान मिथ्यादर्शन है।[6]

आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र से श्रीमल्लिषेणाचार्यकृत स्याद्वादमंजरी ग्रन्थ में उद्धृत श्लोक में लिखा है कि अदेव को देव, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि वह विपरीत रूप है।[7]

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में शुद्धात्म-विमुखता को मिथ्यादर्शन बताते हुए लिखा है कि निज आत्मा के श्रद्धान रूप से विमुखता मिथ्यादर्शन है।[8]

द्रव्यसंग्रह टीका में लिखा है कि अन्तरंग में वीतराग निजात्म तत्त्व के अनुभवरूप रुचि में विपरीत अभिप्राय उत्पन्न कराने वाला तथा बाह्य विषय में परसम्बन्धी शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सम्पूर्ण द्रव्यों में जो विपरीत आग्रह को उत्पन्न कराने वाला है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं।[9]

मिथ्यादर्शन के भेद

शास्त्रों में मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन के दो, तीन, चार, पाँच, तीन सौ त्रेसठ (363) इत्यादि भेद बताए गए हैं।

भगवती आराधना में मिथ्यात्व के तीन भेद बताए हैं– संशय, अभिगृहीत व अनभिगृहीत मिथ्यात्व।[10]

कुन्दकुन्दाचार्य ने मिथ्यात्व के पाँच भेद बताए हैं– एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान।[11]

पूज्यपादाचार्य[12] ने मिथ्यादर्शन के दो भेद प्रकट किए हैं तथा भेदों के प्रभेद भी बताए हैं। मिथ्यादर्शन के दो भेद– नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। इनमें जो परोपदेश के बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान रूप भाव होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। तथा परोपदेश के निमित्त से होने

वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार का है– क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक। अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का है– एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन।

एकान्त मिथ्यादर्शन– यही है, इसी प्रकार का है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकान्तरूप अभिप्राय रखना एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे यह सब जगत् परब्रह्म रूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही हैं या नित्य ही हैं।

विपरीत मिथ्यादर्शन– सग्रन्थ को निर्ग्रन्थ मानना, केवली को कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है, इत्यादि मानना विपर्यय मिथ्यादर्शन है।

संशय मिथ्यादर्शन– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर क्या मोक्षमार्ग है या नहीं? इस प्रकार किसी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करना संशय मिथ्यादर्शन है।

वैनयिक मिथ्यादर्शन– सब देवता और सब मतों को एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है ।

अज्ञानिक मिथ्यादर्शन– हिताहित की परीक्षा से रहित होना अज्ञानिक मिथ्यादर्शन है। कहा भी है– क्रियावादियों के एक सौ अस्सी (180), अक्रियावादियों के चौरासी (84), अज्ञानियों के सड़सठ (67) और वैनयिकों के बत्तीस (32) भेद हैं।

इस प्रकार 363 मिथ्यामतवाद हैं।[13]

अकलंकाचार्य[14] ने लिखा है कि परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शन के अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामों की दृष्टि से असंख्यात और अणुभाग की दृष्टि से अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, म्लेच्छ, शवर, पुलिन्द आदि स्वामियों के भेद से अनेक प्रकार का है।

आचार्य माइल्लधवल[15] ने मिथ्यात्व के दो भेद कहे हैं– एक मूढता रूप और दूसरा स्वभाव निरपेक्ष अर्थात् परोपदेश रूप।

आचार्य शिवार्य[16] ने मिथ्यात्व के अभिगृहीत व अनभिगृहीत दो भेद बताए हैं। उन्होंने लिखा है कि परोपदेश की मुख्यता से गृहीत अर्थात् स्वीकार किया गया अश्रद्धान अभिगृहीत कहा जाता है, इसका अभिप्राय यह है कि जीवादि द्रव्य नहीं हैं, यह स्वीकार करो, या जीवादि हैं किन्तु नित्य ही हैं। इस प्रकार जब दूसरे के वचन को सुनकर जीवादि के अस्तित्व में या उनके अनेकान्तात्मक होने में जो अश्रद्धान या अरुचि उत्पन्न हो, वह अभिगृहीत मिथ्यात्व है। और परोपदेश के बिना भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो अश्रद्धान उत्पन्न होता है

वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है।

पं. राजमलजी ने पंचाध्यायी ग्रन्थ में लिखा है कि मिथ्यात्व सामान्य व विशेष के भेद से दो प्रकार का है।[17] परन्तु सामान्य मिथ्यात्व सामान्यरूप होने से वचनगोचर नहीं किया जा सकता, इसलिए बुद्धिपूर्वक उसका लक्षण कहता हूँ। लेकिन स्वसंवेदनगोचर होने से युक्ति, स्वानुभव और आगम के द्वारा उस सामान्य मिथ्यात्व की सिद्धि के विषय में दिया हुआ हेतु असिद्ध नहीं हो सकता।[18] यद्यपि इस जगत् में सभी संसारी जीवों के निरन्तर सामान्य रूप से मिथ्यात्व भाव रहता है तथापि किन्हीं संज्ञी जीवों का मन मिथ्यात्व के विशेषों के विषय में उपयोगवान् हो सकता है।[19] यहाँ पंचाध्यायी के हिन्दी टीकाकार पं. देवकीनन्दन जी ने लिखा है कि सामान्य मिथ्यात्व सामान्यरूप से एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों में पाया जाता है। इसी का दूसरा नाम अज्ञान मिथ्यात्व है। तथा एकान्त, विपरीत, विनय, व संशय ये सब विशेष मिथ्यात्व कहे जाते हैं। ये चारों ही मिथ्यात्व एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक में बिल्कुल सम्भव नहीं होते। केवल संज्ञी पंचेन्द्रियों में किन्हीं-किन्हीं विशेष संज्ञी प्राणियों के ही सम्भव होते हैं, सो भी कदाचित्।[20]

मिथ्यात्व के लक्षणों एवं भेद-प्रभेदों का वर्णन करने के पश्चात् यहाँ न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि जीवों के मिथ्यात्व स्वभाव से ही दर्शनमोहनीय के उदय से प्रवाह के समान सदैव पाया जाता है। और मिथ्यात्व के उदय का जो कार्य है वह अच्छी तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है, क्योंकि यदि मिथ्यात्व का उदय न होता तो आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि क्यों न पायी जाती।[21]

देहधारी प्राणियों को तीनों लोकों व तीनों कालों में सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है और मिथ्यात्व के समान विपत्तिकारक अश्रेयस्कर अन्य कुछ नहीं है।[22] मिथ्यात्व भाव युक्त जीव को साक्षात् पापी कहा गया है, लिखा है कि मैं यह सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी भी बन्ध नहीं होता है, ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है, ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों का भी उत्कृष्ट रीति से अवलम्बन लेवें तो भी वे पापी ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यग्दर्शन से रहित एवं मिथ्यात्व सहित हैं।[23]

आत्मा के भवबन्धन व मुक्ति के मध्य की सबसे बड़ी दीवार है यह मिथ्यात्व। इसके समान दूसरा कोई पाप नहीं है। मिथ्यात्व ही आत्मा की वैशद्य क्रिया में सबसे बड़ा अवरोधक है। जब तक जीव मिथ्यात्व सहित रहता है तब तक उस जीव की मुक्त होने की पात्रता ही नहीं बनती। मुक्ति का पहला सोपान है मिथ्यात्व

का नाश और साथ ही सम्यक्त्व की प्राप्ति। मिथ्यात्व के कारण ही जीव निज हिताहित विवेक प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यात्व-रंजित होने पर जीव को अपने परम लक्ष्य का स्मरण तक नहीं रहता, उस परम लक्ष्य के प्राप्त्यर्थ पुरुषार्थ तो दूर की बात है। यदि इस मिथ्यात्व को सभी पापों का राजा भी कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जब तक जीव के मिथ्यात्व का नाश नहीं होता तब तक वह जन्म-मरण के बन्धन में बँधा रहता है। मिथ्यात्व के कारण जीव के दर्शन– ज्ञान-चारित्र सब मिथ्या हो जाते हैं। इस मिथ्यात्व से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है– सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति। और वह सम्यक्त्व प्रकट होता है निसर्ग से या अधिगम से। निसर्ग का अर्थ है– स्वभाव से सम्यग्दर्शन होना, इसी का नाम नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है, इसमें बाह्य उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। और जो बाह्य उपदेशपूर्वक जीवादि पदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगम सम्यग्दर्शन है। मिथ्यात्व का नाश होता है और सम्यक्त्व प्रकट होता है। यही मिथ्यात्व महाशत्रु को पराजित करने का सार्थक उपाय है। यदि जीव मिथ्यात्व सहित है तो कितना ही मन्द कषाय हो, कैसा ही ज्ञान हो, कितना ही चारित्र पालन करें और कितना ही तपश्चरण करें, तो वह सब निष्फल बोझ मात्र है। लेकिन यदि सम्यक्त्व है और उसके साथ थोड़ा भी मन्द कषाय, ज्ञान, चारित्र और तप हो तो भी वह महत्त्वपूर्ण एवं फलदायक है।

समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि सम्यग्दर्शन सहित जीव चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए भी राख के भीतर ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान पूज्य हैं।[24] सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में कर्णधार है।[25] जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की उद्भूति नहीं होती।[26] सम्यग्दृष्टि जीव बुढ़ापा रहित, रोग रहित, क्षय रहित, बाधा रहित, शोक रहित, भय रहित तथा शंका रहित, अनन्त सुख और ज्ञान के वैभव से सहित तथा कर्म रहित मोक्ष को भी प्राप्त होते हैं।[27] सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हुए समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि जिनेन्द्रदेव का भक्त सम्यग्दृष्टि पुरुष अपरिमित प्रतिष्ठा अथवा ज्ञान से सहित, इन्द्रसमूह की महिमा को राजाओं के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को तथा समस्त लोक को अपना उपासक बनाने वाले तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होता है।[28] अतः सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन ही जीव का सर्वस्व है।

सन्दर्भ सूची

1. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ 800-801
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 300

3. तं मिच्छत्तं जमसद्दहण तच्चाणं होइ अत्थाणं।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं।।
—आचार्य शिवार्य विरचित भगवती आराधना, गाथा 55

4. मिथ्यादर्शनकर्मणः उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्।
—सर्वार्थसिद्धि 2/6/265 पृष्ठ संख्या 114

5. मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं।
तस्सोदयेण जीवो विवरीदं गेण्हए तच्चं।।
अत्थित्तं णो मण्णदि णत्थिसहावस्स जो हू सावेक्खं।
णत्थी विय तह दव्वे मूढो मूढो हु सव्वथ।।
मूढो विय सुदहेदुं सहावणिरवेक्खरूवदो होइ।
अलहंतो खवणादी मिच्छापयडीण खलु उदए।।
—आचार्य माइल्लधवल विरचित णयचक्को (नयचक्र), गाथा 303, 304, 305

6. भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्।
—नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, गाथा 91

7. अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्।।
—श्रीमल्लिषेणाचार्यकृत स्याद्वादमंजरी, 32, पृष्ठ संख्या 267

8. स्वात्मश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेव मिथ्यादर्शनं.....।
—नियमसार तात्पर्यवृत्ति टीका आचार्य श्री पद्मप्रभमलधारिदेव, गाथा 91

9. अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते।
—बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा 30

10. संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं। —आचार्य शिवार्य विरचित भगवती आराधना, अपराजितसूरिकृता विजयोदया टीका सहित, गाथा 55

11. एयत्तं विणय विवरिय संसयमण्णाणमिदि हवे पंच।
—कुन्दकुन्दाचार्य विरचित बारसाणुवेक्खा, गाथा 48

12. मिथ्यादर्शनं द्विविधम् – नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्व-कर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधं क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्। अथवा पंचविधं मिथ्यादर्शनम् – एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनं अज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति। तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति। सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः। सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम् । उक्तं च–

असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तह य होइ चुलसीदी।
सत्तट्ठमण्णाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं।।–सर्वार्थसिद्धि, 8/1/731/पृष्ठ संख्या 291-292

13. ते एते मिथ्योपदेशभेदाः त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि।
–अकलंकाचार्यकृत तत्त्वार्थवार्तिक, 8/1/12/ पृष्ठ संख्या 562

14. एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च संख्येया योज्याः ऊह्याः, परिणाम विकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात्। यन्नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञितिर्यङ्म्लेच्छशवरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम्।
–अकलंकाचार्यकृत तत्त्वार्थवार्तिक, 8/1/27/ पृष्ठ संख्या 564

15. मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं।
–आचार्य माइल्लधवल विरचित णयचक्को (नयचक्र), गाथा 303

16. परोपदेशाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते। एतदुक्तं भवति। न सन्ति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण, सन्ति जीवादीनि नित्यान्येवेति यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्वे अनेकान्तात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति। परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वम्।
–आचार्य शिवार्य विरचित भगवती आराधना, अपराजितसूरिकृता विजयोदया टीका सहित, गाथा 55

17. तत्र सामान्यमात्रत्वादस्तिवक्तुमशक्यता।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद्बुद्धिपूर्वकम्।।
–पं. राजमलजी रचित पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, श्लोक संख्या 1029

18. निर्विशषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता।
स्वसंवेदनसिद्धत्त्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः।। उपर्युक्त पंचाध्यायी, श्लोक संख्या 1030

19. सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम्।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाचिंत्संज्ञिनां मनः।। उपर्युक्त पंचाध्यायी, श्लोक संख्या 1031

20. सरलार्थ प्रबोधिनी हिन्दी टीका पं. देवकीनन्दन जी, उपर्युक्त पंचाध्यायी– भावार्थ, श्लोक संख्या 1031, पृष्ठ संख्या 435

21. ततो न्यायगतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत्।। 1033।।
कार्यं तदुदयस्योच्चौः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः।। 1034।।
उपर्युक्त पंचाध्यायी, श्लोक संख्या 1033-1034

22. न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।
–रत्नकरण्डश्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 34

23. सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या–
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरंतु।

आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः।। —समयसार, कलश 137

24. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवादेवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्।।
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र, श्लोक 28

25. दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते।। —रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 31

26. विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।। —रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 32

27. शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम्।
काष्ठागतसुखविद्या–विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः।।
—उपर्युक्त रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 40

28. देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।।
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 41

❖❖

भत्तपइण्णाइविही जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि।
वारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदि मज्झिमया॥

—आचार्य नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 60

अर्थ– भक्त प्रतिज्ञा अर्थात् भोजन त्याग की प्रतिज्ञा करके जो सल्लेखना, संथारा, समाधिमरण होता है उसके काल का प्रमाण जघन्य से अन्तर्मुहूर्त अर्थात् मृत्यु से 48 मिनट पहले एवं उत्कृष्ट 12 वर्ष प्रमाण है तथा अन्तर्मुहूर्त से एक-एक समय बढ़ते हुए 12 वर्ष पर्यन्त जितने भेद हैं वे सब मध्यमकाल के भेद जानना। ◆◆

पढमचउक्के पढमं, पंचमए जाण पोग्गलं तच्चं।
छट्ठे-सत्तम आसव, अट्ठमए बंध णादव्वो॥
णवमे संवर-णिज्जर, दहमे मोक्खं वियाणाहि।
इह सत्ततच्च भणिदं, जिणवरपणीदं दहसुत्तं॥

अर्थ– शुरू के चार अध्यायों में जीवतत्त्व का वर्णन है, पांचवें अध्याय में अजीवतत्त्व का वर्णन है, छठे-सातवें अध्यायों में आस्रवतत्त्व का वर्णन है, आठवें अध्याय में बंधतत्त्व का वर्णन है, नौवें अध्याय में संवर-निर्जरा तत्त्व का वर्णन है और दसवें अध्याय में मोक्षतत्त्व का वर्णन है। इसप्रकार दस सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान ने सात प्रयोजनभूत तत्त्व कहे हैं। ◆◆

तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से समयसार और तत्त्वार्थसूत्र का तुलनात्मक विवेचन

—ऋषभ जैन*

समयसार और तत्त्वार्थसूत्र दोनों ग्रन्थों के विवेचन के मुख्य आधार तत्त्वार्थ हैं। तत्त्वार्थ के संबंध में दोनों ग्रंथों में दो दृष्टियों से तुलना की जा सकती है; तत्त्वों के क्रम, संख्या आदि के आधार से तथा तत्त्वों के विवेचन की शैली के आधार से।

तत्त्वों की तुलना में तीन विषमताएँ सामने आती हैं। समयसार में नव तत्त्व और तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्व कहे हैं। समयसार में बंध का स्थान मोक्ष से पूर्व है; तत्त्वार्थसूत्र में यह स्थान संवर से पूर्व है। समयसार में पुण्य-पाप अलग से कहे, जो तत्त्वार्थसूत्र में देखने को नहीं मिलते । एक ही संप्रदाय व शताब्दी के ग्रंथ होने से विवेचन की ये विषमताएं जिज्ञासोत्पादक बन जाती हैं । सहज ही कुछ प्रश्न चित्त को घेर लेते हैं कि क्या उन दोनों आचार्यों में परस्पर मतभेद था? उस समय अन्य ग्रंथों में तत्त्वों का क्रम और संख्या क्या प्रचलित थी? क्या आचार्य कुन्दकुन्द के अतिरिक्त किन्हीं अन्य आचार्य ने भी नव तत्त्वों का वर्णन किया है? यदि किया है, तो वहाँ क्रम क्या रखा गया है?

विभिन्न ग्रंथों से अवलोकन से इन सभी जिज्ञासाओं के समाधान में कुछ दिशा मिलती है।

दिगम्बर संप्रदाय के सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रंथ कसायपाहुड़ और षटखंडागम में तत्त्वों का नामोल्लेख नहीं है, जिस कारण समयसार को तत्त्वों के नाम और संख्या के लिए प्रथम उल्लेख के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह नाम और क्रम हमें पंचास्तिकायसंग्रह[1], गोम्मटसार जीवकाण्ड[2] में भी मिलता है।

* शोधछात्र, जैनदर्शन विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110016 मोबाईल : 7838749726 ई-मेल : jainrishabh156@gmail.com

मूलाचार[3] में तो समयसार की गाथा 13 के समान ही एक गाथा है। भगवती आराधना[4] में भी पर्याय तत्त्वों में संवर का स्थान मोक्ष से पूर्व रखा गया है।

रोचक बात यह है कि श्वेताम्बर संप्रदाय में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा वर्णित क्रम व संख्या अनेक ग्रंथों में प्राप्त होती है। योगशास्त्र[5], स्थानांग[6], प्रशमरति प्रकरण[7] में समयसार के समान ही तत्त्वार्थ मिलते हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र के समान श्वेताम्बर-सम्मत तत्त्वार्थसूत्र भी सात तत्त्व और उसी क्रम का वर्णन करता पाया जाता है।[8]

करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग के अध्यात्म-अतिरिक्त ग्रंथों में भी यह संख्या और क्रम होने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि समयसार के क्रम का कारण उसका अध्यात्म ग्रंथ होना नहीं है, न ही उसका नाटकीय रूप इस संख्या का हेतु है। संवर और बंधों में मात्राओं की समानता होने से छंदबद्धता भी इसका कारण नहीं है। छंदानुसार दोनों को एक-दूसरे के स्थान पर भी रखा जा सकता था। उपरोक्त सभी उल्लेखों का विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि गाथा अथवा गद्य में नव तत्त्वों का कथन है तथा सूत्रग्रंथ में सात तत्त्वों का। यदि वर्णन की यही स्थिति है, तब इस अवधारणा में संकोच नहीं होगा कि सूत्रों का संक्षिप्त व सार रूप, इस भेद का कारण हो सकता है। जहाँ अल्प कथन से प्रयोजन-सिद्धि संभव हो, वहाँ अधिक को गौण किया जा सकता है। तत्त्वों के वर्णन में पुण्य-पाप को आस्रव-बंध में अंतर्गर्भित किया जा सकता है, किन्तु आस्रव आदि में से किसी को अन्यत्र गर्भित करना संभव नहीं है। मोक्षमार्ग में इनका वर्णन तो न्यूनतम रूप से आवश्यक है।

सर्वार्थसिद्धि में पुण्य-पाप का उल्लेख करते हुए उन्हें ग्रहण न करने पर प्रश्न उठाया गया है—

'इह पुण्यपापग्रहणं कर्तव्यम्। 'नवपदार्थाः' इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम्, आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात्। यद्येवमास्रवादिग्रहणमनर्थकं, जीवाजीवयोरन्तर्भावात्। नानर्थकम्।.... अतः प्रधानहेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पृथगुपदेशः कृतः।'[9]

यहाँ ध्यातव्य है कि आचार्य पूज्यपाद ने सात तत्त्वों में पुण्य-पाप को सम्मिलित न करने का हेतु बताने के अर्थ यह प्रश्न अलग से किया, जिसका समाधान वे उनको आस्रव-बंध में सम्मिलित कहकर करते हैं। तथा शेष पाँच तत्त्वों के कथन को मोक्षमार्ग के प्रकरण में सम्यग्दर्शन के लिए आवश्यक मानते हैं। अतः यहाँ सूत्र का संक्षिप्त रूप तत्त्वों की सात संख्या का हेतु कहा जा सकता है। तथा गाथा में स्थान होने से मुख्य रूप से नव तत्त्व कहे गए हैं। क्रम में तत्त्वार्थसूत्र

का अनुकरण करने वाले द्रव्यसंग्रह में भी 'सपुण्णपावा जे'[10] कहकर नव तत्त्वों को लिया गया है।

उक्त कथ्य अधिक पुष्ट होता है जब एक ही आचार्य उमास्वाति अपने सूत्रग्रंथ में सात तत्त्व और गाथाबद्ध प्रशमरति-प्रकरण में नव तत्त्व लिखते हैं। अतः संख्या में नौ और सात के भेद का हेतु गाथा और सूत्र का भेद ही कहा जा सकता है।

प्रश्न– तत्त्व सात और पदार्थ नौ होते हैं, अतः यह भी संभव है कि पुण्य-पाप के पदार्थ होने से, तत्त्व न होने से उन्हें तत्त्वों में सम्मिलित नहीं किया गया?

समाधान– सात तत्त्व वास्तव में तत्त्वार्थ हैं, तथा नव पदार्थों को भी नव तत्त्व कहा गया है। अर्थ स्वरूप सहित ही होते हैं तथा स्वरूप बिना अर्थ के नहीं रहता। अतः तत्त्वार्थ और पदार्थ का कोई ऐसा भेद ज्ञात नहीं होता जो पुण्य-पाप को सम्मिलित करने अथवा अलग से कथन करने का कारण बने। आचार्य कुंदकुंद के समय सात तत्त्व थे ही नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; वे स्वयं दर्शनपाहुड़[11] गाथा 19 में इनका पृथक् उल्लेख करते हैं। अतः सूत्र-गाथा का सामान्य-विशेष कथन ही इसका हेतु समझना चाहिए।

दूसरी विषमता बंध के स्थान को लेकर खड़ी होती है। समयसार में तत्त्वों का क्रम[12]– जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वों का क्रम[13]– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

तत्त्वार्थसूत्र के क्रम का औचित्य तो सर्वार्थसिद्धि में प्रकट बताया ही है। समयसार के क्रम के संबंध में तर्कणा अपेक्षित है। प्रारम्भ के दो तत्त्व मूल द्रव्य तत्त्व, व शेष पर्याय तत्त्व हैं। पर्याय तत्त्वों में बंध संसार का नाम है और मोक्ष उससे मुक्ति का; संसार का कारण आस्रव है और मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा। इस प्रकार बंध और मोक्ष कार्य पर्याय तत्त्व और आस्रव, संवर और निर्जरा कारण पर्याय तत्त्व कहे जा सकते हैं। कारण और कार्य की पुष्टि आचार्य कुंदकुंद के द्वादशानुप्रेक्षा को देखने से भी होती है, जहाँ अनित्य आदि के माध्यम से संसार से छूटने और मोक्ष प्राप्त करने की भावना प्रकट की गई है। किन्तु मात्र संसार को बुरा और मोक्ष को भला विचारने से उनका त्याग-ग्रहण नहीं होता, अतः उपाय स्वरूप आस्रव-संवर-निर्जरा, इन तीन कारण तत्त्वों की भावना की गई है। अतः संसार-मोक्ष के कारणों का विवेचन करके संसार-मोक्ष का वर्णन करना समयसार के क्रम का औचित्य हो सकता है।

अन्य जिज्ञासा यह जागृत होती है कि तत्त्वों के विशेष करने में सविपाक, अविपाक अथवा किसी अन्य तत्त्व के भेद भी गिनाए जा सकते थे। विशेष में

पुण्य-पाप के ही कथन करने का क्या कारण है? पुण्य-पाप के विशेष कथन के अनेक कारण हो सकते हैं।

1. पुण्य पाप से सर्व जगत बहु-परिचित है; अतः आस्रव-बंध तत्त्वों को सरलता से समझना सहकारी होगा।
2. पुण्य-पाप, अन्य धर्म/दर्शनों में भी तत्त्व/पदार्थ के रूप में पाए जाते हैं।
3. एक और सबसे प्रमुख कारण पुण्य की विचित्रता हो सकता है। मोक्षमार्ग में जहां पाप की पूर्ण हेयता है, वहीं पुण्य की कथंचित् हेयता और कथंचित् उपादेयता है। आस्रव को पूर्णतः हेय कहने से, कोई जीव पाप के समान पुण्य को भी सर्वथा हेय न समझ ले तथा आस्रव को हेय कहने पर उसमें पुण्य को न गिनता हुआ पुण्य को सर्वथा उपादेय न मान ले, तदर्थ पुण्य-पाप को अलग कहना आवश्यक था। क्योंकि पुण्य को सर्वथा हेय मानने पर व्यवहार धर्म साधन के अभाव में मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, तथा पुण्य को सर्वथा उपादेय मानने पर परमार्थ धर्म साधन के अभाव में मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः उसकी सम्पूर्ण स्थिति कहना आवश्यक थी। तत्त्वार्थसूत्र का सातवाँ अध्याय इसका बड़ा प्रमाण है जिसमें पुण्यास्रव का पृथक् कथन किया गया है।

इस प्रकार पुण्य-पाप के विशेष कथन संबंधी जिज्ञासा का भी समाधान हो जाता है।

यह समयसार और तत्त्वार्थसूत्र संबंधी तत्त्वों के क्रम, संख्या और विशेष के संबंध में विवेचन हुआ। अब इन दोनों ग्रन्थों में तत्त्वों के वर्णन को लेकर जो भेद दृश्यमान होते हैं, वे दृष्टव्य हैं। दोनों ही ग्रन्थों के अधिकारों में तत्त्वों का क्रमशः वर्णन है, किन्तु समयसार अध्यात्म का ग्रंथ है, तत्त्वार्थसूत्र नहीं, इस शैली भेद से विवेचन के दृष्टिकोणों में भी वैचित्र्य परिलक्षित होता है। दोनों ग्रन्थों संबंधी कुछ रोचक विचित्रताएं दृष्टव्य हैं–

1. दोनों ही ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के हेतुभूत तत्त्वार्थश्रद्धान का कथन है; किन्तु उनके अधिगम के उपाय में समयसार में 'भूदत्थेणाभिगदा'[14] कहकर तत्त्वों को भूतार्थ से जानने की और तत्त्वार्थसूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगमः'[15] कहकर तत्त्वों को प्रमाण-नय से जानने की बात है । अधिगम के ये उपाय आगे अधिकारों के विवेचन में अंतर को भी प्रकट करते हैं।
2. दोनों ग्रन्थों में जीव संबंधी विस्तृत विवेचन है। तत्त्वार्थसूत्रकार जीव के विवेचन का विस्तार करते हुए तीसरे और चौथे अध्याय में तीन लोक की रचना अनुसार

जीवों का अवस्थान बताते हैं। जबकि समयसार में कर्ता-कर्म अधिकार के रूप में जीव के विवेचन का विस्तार किया गया।

3. तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव आदि का वर्णन करते हुए उनकी परिभाषा, भेद-प्रभेद की ओर से कथन की मुख्यता है; किन्तु समयसार आस्रव-बंध के त्याग व संवर-निर्जरा-मोक्ष की प्राप्ति के उपाय पर केन्द्रित है।
4. तत्त्वार्थसूत्र का प्रतिपाद्य तत्त्व हैं, जबकि समयसार का मुख्य प्रतिपाद्य उन तत्त्वों में छिपी आत्म-ज्योति को प्रकट करना है। इसी प्रयोजन से आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वों के श्रद्धान में आत्मानुभूति को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का हेतु बताते हैं। 'अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव... आत्मानुभूतेः... संपद्यमानत्वात्।'[16]
5. आचार्य जयसेन के अनुसार तत्त्व, प्रमाण, नय आदि का विवेचन प्राथमिक शिष्य के लिए है– 'नवपदार्थाः तीर्थवर्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते'।[17] इस कारण समयसार में किसी तत्त्व की अथवा उनके भेद-प्रभेदों की परिभाषा न बताते हुए अपनी बात प्रारम्भ करते हैं। यथा बंध का विवेचन करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में उसके हेतु और परिभाषा बताकर प्रारम्भ किया गया है; जबकि समयसार के बंध अधिकार का आरंभ ही इस बात से है कि कायचेष्टा आदि से बंध नहीं होता, उपयोग में रागादि होना ही बंध का कारण है।
6. यह अंतर मात्र तत्त्वार्थसूत्र के संबंध में हो, ऐसा भी नहीं है। अध्यात्मअतिरिक्त किसी भी ग्रंथ की शैली की तुलना की जा सकती है। उदाहरणार्थ स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में शुभपरिणाम अधिकार[18] के प्रारम्भ में शुभ परिणाम का स्वरूप बताते हैं, किन्तु समयसार में पुण्य-पाप अधिकार का प्रारम्भ ही दोनों को एक समान कुशील कहकर करते हैं।
7. तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव अधिकार में आस्रव के भेदों का वर्णन है तथा समयसार, सम्यग्दृष्टि के आस्रव-बंध नहीं होता,[19] इस तथ्य को मुख्य करता है। निर्जरा अधिकार में परिभाषा बताए बिना सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के लिए हैं,[20] यह विवेच्य हो जाता है।
8. तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य-पाप का विवेचन संक्षेप में आस्रव के साथ करते हैं, समयसार के पुण्य-पाप अधिकार का प्रतिपाद्य उन दोनों का त्याग करके एक आत्मा में रति कराने का है।
9. समयसार में आचार्य गाथा 11 में भूतार्थ आश्रित जीव को सम्यग्दृष्टि बताकर आगे के अधिकारों में ज्ञानी-अज्ञानी की ओर से ही प्रायः कथन करते हैं।

सम्यग्दृष्टि के अनुसार तत्त्व बताना वास्तव में भूतार्थ से तत्त्व बताना ही है।

इत्यादि अन्य भी अनेक तुलनाएँ इनमें देखी जा सकती हैं, जो अग्रिम शोध की अपेक्षा रखती हैं।

इनमें से कोई भी विवेचन सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं करता, अपितु दोनों कथनों का स्रोत एक वस्तु स्वरूप ही है, अतः इतना भेद होने पर भी तत्त्वार्थसूत्र के अनेक ऐसे स्थल हैं, जो समयसार के आध्यात्मिक कथनों का पोषण करते देखें जाते हैं–

1. तत्त्वार्थसूत्र-कथित चैतन्यमय जीवत्व पारिणामिक भाव[21] समयसार-वर्णित वर्णादि-रागादि से भिन्न जीव ही है । वहाँ उस पारिणामिक भाव को औदयिक आदि चार भावों से भिन्न कहा; समयसार में कथित 29 भाव उन चार भावों के ही रूप हैं ।
2. समयसार में बंध के मूल रागादि भाव कहे,[22] पर द्रव्य, योग आदि का निषेध किया। तत्त्वार्थसूत्र के छठवें अध्याय में भी कर्म-आस्रव के सर्व कारण जीव के मंद-तीव्र कषाय भाव ही हैं।
3. समयसार बंध अधिकार के अनुसार राग रहित हिंसा आदि भी बंध के कारण नहीं हैं।[23] यह सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा आदि से पूर्व 'प्रमत्तयोगात्'[24] लिखने से पुष्ट हो जाती है, जिसके अनुसार हिंसा आदि को प्रमाद सहित होने पर ही आस्रव-बंध में कारण कहा।
4. तत्त्वार्थसूत्र में जीव के समस्त भेद-उपभेद, व पाँच भाव बताने पर भी जीव की पहचान व अनुभूति के लिए उपयोग लक्षण का प्रतिपादन किया है। वह उपयोग लक्षण जीव की अनुभूति का हेतु है, यह स्वयं आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं– 'बंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते'।[25] इस प्रकार इस उपयोग लक्षण से आचार्य भेद-विज्ञान की सिद्धि करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द सम्पूर्ण ग्रंथ में उपयोग लक्षण को प्रमुख करते हुए उसे जीव की अनुभूति का हेतु बताते हैं जो 'जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं',[26] 'उवओग एव अहमेक्को',[27] 'णाणसहावाधियं मुणदि आदं'[28] इत्यादि अनेक स्थानों पर अभिव्यंजित होता है। गाथा 49 में जीव के लक्षण की चर्चा करते हुए 9 विशेषणों में मात्र एक 'चेदणागुणं' विशेषण अस्तिरूप दिया गया है।
5. समयसार में मात्र योगों को बंध का कारण कहने का निषेध करते हुए कषायों को मुख्य किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी बंध की चर्चा में 'सकषायत्वात्'[29] कहकर बंध में मुख्य कषायों को किया।

6. समयसार में समस्त पुण्य को पाप के समान कुशील कहकर त्यागने योग्य कहा; वहीं तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव की चर्चा करते हुए सातवें अध्याय में पुण्यास्रव में व्रतों का विशेष उल्लेख किया जिससे उस कथन का पोषण किया जा सकता है।
7. समयसार के निर्जरा अधिकार में ज्ञानी को इच्छा के अभाव में अपरिग्रही कहा गया।[30] तत्त्वार्थसूत्र में भी 'मूर्च्छा परिग्रहः'[31] कहकर परिग्रह का मुख्य संबंध बाह्य वस्तुओं से न करके जीव के परिणामों से किया।

इस प्रकार अन्य भी अनेक संबंध इन दोनों ग्रन्थों में किए जा सकते हैं। ये दोनों ग्रंथ एक दूसरे के पूरक हैं। एक के माध्यम से अन्य का प्रतिपाद्य गहराई से समझा जा सकता है। इन दोनों के गहन अध्ययन के द्वारा तत्त्वार्थों के सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक पक्षों को गंभीरता से समझा जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. पंचास्तिकाय, गाथा 108 **2.** गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 621 **3.** मूलाचार, गाथा 203 **4.** भगवती आराधना, गाथा 38 **5.** योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश, सूत्र 16, स्वोपज्ञ टीका **6.** स्थानांग, ठाण 9, सूत्र (पद) 6 (अंगसुत्ताणि) **7.** प्रशमरति प्रकरण, श्लोक 189 **8.** जैन दर्शन के नव तत्त्व, पृष्ठ 68 **9.** सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 1, सूत्र 4, वृत्ति **10.** द्रव्यसंग्रह, गाथा 28 **11.** देखें अष्टपाहुड़ **12.** समयसार, गाथा 13 **13.** तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1, सूत्र 4 **14.** समयसार, गाथा 13 **15.** तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 1, सूत्र 6 **16.** समयसार गाथा 13, आत्मख्याति टीका **17.** समयसार गाथा 13, तात्पर्यवृत्ति टीका **18.** प्रवचनसार, गाथा 69 **19.** समयसार, गाथा 166 **20.** समयसार, गाथा 193 **21.** तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 2, सूत्र 7 **22.** समयसार गाथा 241 **23.** समयसार गाथा 262 **24.** तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 7, सूत्र 13 **25.** सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 8, उत्थानिका **26.** समयसार गाथा 24 **27.** समयसार गाथा 36 **28.** समयसार, गाथा 31 **29.** तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 8, सूत्र 2 **30.** समयसार गाथा 212 **31.** तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 7, सूत्र 17

❖❖

''आचार्य सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः॥''

–आचार्य वाग्भट्ट, अष्टांगहृदये, 2/45

अर्थ– बुद्धिमान् मनुष्य के लिये सब क्रियाओं में लोक (समाज) ही आचार्य है; उससे भी सीखे। परीक्षक (विचारक) मनुष्य लौकिक व्यवहार में लोक का ही अनुकरण करे।

मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र का ऐतिहासिक महत्त्व

—दीप चन्द जैन*

जैन परंपरा में शाश्वत सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर को तीर्थराज की संज्ञा प्राप्त है। सामान्य मान्यता तो यह है कि इस भूमण्डल पर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ से कोई-ना-कोई मुनि सिद्धि को प्राप्त न हुआ हो। अतः व्यवहारिक दृष्टि से समस्त भूमण्डल ही सिद्धक्षेत्र है, फिर भी सामान्यतया जहाँ से अनेक सुप्रसिद्ध मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया हो उसे सिद्धक्षेत्र कहा जाता है।

दक्षिण भारत में स्थित ऐतिहासिक सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी का जैन तीर्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे राम, हनुमान, सुग्रीव आदि 99 करोड़ मुनियों की निर्वाणभूमि होने का गौरव प्राप्त है।

महाराष्ट्र प्रांत के नासिक जिले की सटाणा तहसील क्षेत्र में स्थित मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र अपने ऐतिहासिक महत्त्व के लिए विख्यात है। प्राकृतिक सौंदर्य से विभूषित यह क्षेत्र एक शांत एवं पवित्र पर्वतीय स्थल है, जहाँ दिगंबर जैन मुनियों को अपने तप एवं साधना के लिए अनुकूलता प्राप्त हुई और उन्होंने अपने समस्त घातिया एवं अघातिया कर्मों का नाश करके यहां से निर्वाण को प्राप्त किया।

वस्तुतः मांगीतुंगी एक पर्वत है जिसकी दो चूलिकाएँ एक मांगीगिरि व दूसरी तुंगीगिरि के नाम से जानी जाती है। यह पूरा पहाड़ी क्षेत्र गालना हिल्स के नाम से प्रसिद्ध है जो कि समुद्रतल से 4500 फीट की ऊंचाई पर स्थित है। दोनों पहाड़ियों पर प्राचीन दिगंबर जैन गुफाएं हैं और ऊपर गगनचुंबी शिखर है। पहाड़ पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। इन दोनों पहाड़ियों पर हजारों वर्ष प्राचीन तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाएँ एवं यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ विराजमान हैं। इन पर अनेक प्राचीन शिलालेख हैं जिनसे इस क्षेत्र की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है।

प्राचीन समय में यह पहाड़ मंगेश्वर और तुंगेश्वर नाम से जाने जाते थे। इस

*शोधार्थी, जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश)

पहाड़ के पश्चिम की ओर 'मांगी' नाम का एक गांव था तथा पूर्व में 'तुंगी' नाम का गाँव था। ये दोनों गांव उस समय अत्यंत समृद्ध थे। इन्हीं गाँवों के नाम से इस पहाड़ को मांगीतुंगी कहा जाने लगा। सबसे ऊँचा होने से एक नाम तुंगीगिरि एवं जनसमुदाय की मनौती पूर्ण होने से दूसरा मांगीगिरि ऐसा भी प्रसिद्ध हुआ, जिनसे मिलकर मांगीतुंगी नाम प्रचलित हो गया।

मांगीतुंगी का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। यह क्षेत्र पूर्व में दण्डक वन के नाम से जाना जाता था।[1] आचार्य रविषेण द्वारा रचित पद्मपुराण ग्रंथ के 42वें अध्याय के श्लोक 51 में इसका उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है–

इदं तद्दण्डकारण्यं प्रसिद्धं दयिते वनम्।
पश्योनेकविधं कर्म प्रपंचमिव जानकि।।[2]

आज से लगभग 11 लाख वर्ष पूर्व वर्तमान चौबीसी के बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में, आठवें बलभद्र श्री रामचंद्रजी ने शाश्वत तीर्थ अयोध्या में जन्म लेकर अपने क्रियाकलापों से संसार में आदर्श प्रस्तुत किया था। अपने पिता की वचनपूर्ति के लिए इन्होंने भरत को अपना राज्य देकर स्वयं वनवास स्वीकार किया एवं लक्ष्मण व सीताजी के साथ विहार करते हुए वे इसी दण्डक वन में आए थे। इसी वन में कर्णरवा नदी के तट पर सुगुप्ति एवं गुप्ति नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों को आहार दिया था। उस समय पास के वृक्ष पर बैठे गिद्ध पक्षी (मुनियों पर उपसर्ग के परिणामस्वरूप दण्डक राजा को अगले भव में गिद्ध पक्षी की पर्याय मिली) को जाति स्मरण होने पर मन में पश्चात्ताप हुआ और तत्पश्चात् मुनिराजों के चरणोदक पीने के प्रभाव से उसका शरीर कांति युक्त हो गया। इसी गिद्ध पक्षी का नाम जटायु प्रसिद्ध हुआ[3] जिसका वर्णन विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित रामायण ग्रंथों में मिलता है। इसी जंगल में लक्ष्मणजी को सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति हुई थी और उन्हीं के द्वारा रावण की बहन चंद्रनखा के पुत्र शंबूक की मृत्यु हुई थी। उसी निमित्त को लेकर इसी दंडकारण्य में लक्ष्मण -खरदूषण का युद्ध, रावण द्वारा सीता का हरण और जटायु पक्षी का मरण हुआ था।

लंकाविजय एवं 14 वर्ष वनवास के उपरांत श्री रामचंद्रजी ने अनेक वर्षों तक सुखपूर्वक अयोध्या का संचालन किया। कालांतर में लक्ष्मणजी की मृत्यु के उपरांत संसार से विरक्त होकर रामचंद्रजी ने राज्य का त्यागकर सुव्रत नामक मुनिराज से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की और विहार करते हुए दक्षिण भारत के इस मांगीतुंगी पर्वत पर आकर कठोर तपस्या करके मोक्षधाम प्राप्त किया था।[4] उनके साथ ही हनुमान, सुग्रीव आदि 99 करोड़ मुनियों ने भी इसी पर्वत से निर्वाण

प्राप्त किया। तभी से यह तपोभूमि सिद्धभूमि के रूप में विख्यात है। महासती सीता भी अग्निपरीक्षा के बाद पृथ्वीमति आर्यिका माताजी से दीक्षा ग्रहण करके आर्यिका संघ सहित अयोध्या से विहार करती हुई इस भूमि पर आईं और उन्होंने 62 वर्षों तक मांगी पहाड़ पर घोर तपस्या की एवं अंत में स्त्री पर्याय का छेद कर सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया। रामचंद्रजी के प्रधान सेनापति कृतांतवक्र भी यहाँ से तपस्या करके स्वर्ग में देव हुए। निर्वाणकांड भाषा में इस तीर्थ के संबंध में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है–

राम हणू सुग्गीवो गवय गवक्खो य णील महाणीलो।
णव णवदी कोडीओ, तुंगीगिरि णिव्वुदे वंदे॥[5]

अर्थात राम, हनुमान, सुग्रीव, गवय, गवाक्ष,नील और महानील आदि 99 कोटि मुनियों ने तुंगीगिरि से निर्वाण प्राप्त किया। मैं उन्हें वंदन करता हूँ।

राम-निर्वाण के समान यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई थी, जिसके कारण भी इस स्थान की ख्याति हजारों वर्षों से चली आ रही है। 22वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथजी के चचेरे भाई एवं महाभारत कथा के आकर्षण केंद्र नारायण श्रीकृष्ण अपने ज्येष्ठ भ्राता बलदेव जी के साथ द्वारिका में राज्य करते थे। द्वैपायन मुनि के क्रोधवश द्वारिकापुरी के अग्नि में भस्म हो जाने पर दोनों भाइयों ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में सौतेले भाई जरत्कुमार के बाण से घायल होकर श्रीकृष्ण मृत्यु को प्राप्त हुए। तब भ्राता बलदेवजी 6 मास तक उनकी मृत देह को अपने कंधे पर रखकर विचरण करते रहे। तदनन्तर आत्मबोध होने पर जरत्कुमार और पाण्डवों के साथ उन्होंने तुंगीगिरि के शिखर पर कृष्ण का दाह संस्कार कर दिया। आचार्य जिनसेन स्वामी द्वारा रचित 'हरिवंशपुराण' ग्रंथ के 63वें सर्ग के श्लोक संख्या 72 में इसका उल्लेख मिलता है।[6] वैराग्य भावना से ओत-प्रोत बलदेवजी ने जीवन की क्षणभंगुरता को समझकर संपूर्ण परिग्रह के त्याग का निश्चय किया एवं स्वयं को पल्लव देश में स्थित भगवान नेमिनाथ का शिष्य मानते हुए पंचमुष्टि से केशलोंच करके मुनि दीक्षा धारण कर ली। तुंगीगिरि के शिखर पर स्थित बलदेवजी ने सौ वर्ष तक तप किया एवं अंत में समाधिपूर्वक देह त्याग करके ब्रह्म लोक में इंद्र पद को प्राप्त हुए। आचार्य जिनसेन स्वामी ने 'हरिवंशपुराण' के 65वें सर्ग के श्लोक संख्या 26 एवं 33 में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[7] तुंगीगिरि पर आज भी बलदेवजी की पीठ के दर्शन होते हैं।

सटाणा तहसील में ही मांगीतुंगी के निकट मुल्हेर नाम का एक गाँव है, जहाँ पर अति प्राचीन एवं ऐतिहासिक मुल्हेर का किला है। नासिक जिले की सेलबरी-डोलबारी पर्वत शृंखला में 4290 फीट ऊंचाई पर स्थित यह पहाड़ी किला ट्रैकिंग

के लिए उपयुक्त माना जाता है। मुल्हेर का यह गांव महाभारत-काल का है। प्राचीन काल में इसे रतनपुर कहा जाता था।

कालांतर में यह क्षेत्र राठौर वंशी राजपूत राजाओं की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। करीब 650 वर्षों तक इन राजपूत राजाओं ने मुल्हेर पर राज्य किया था। महाराजा वीरमसेन राठौर वंशी ही थे। वे युद्ध पर जाने से पूर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की यक्षिणी चक्रेश्वरी देवी को नमस्कार करके ही जाते थे, जिससे उनके जैन धर्म पर विश्वास का प्रमाण मिलता है। उन्होंने मंगेश्वर और तुंगेश्वर (मांगीतुंगी) पहाड़ पर अनेक बड़े-बड़े गुफा मंदिरों का निर्माण कराया एवं पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया जिसका उल्लेख पर्वत पर स्थित भगवान आदिनाथ गुफा के अंदर लगे पाषाण के बोर्ड से प्राप्त होता है।[8]

मुगल शासन काल में सन 1636 ई. में जब औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया था तब मोहम्मद ताहिर को इस किले की देखभाल की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। मोहम्मद ताहिर ने मुल्हेर के पास ताहिर नामक गाँव की स्थापना की और बाद में इसका नाम बदलकर ताहिराबाद रखा। सन् 1752 ई. में भाल की संधि के बाद मुल्हेर सहित खानदेश के सभी क्षेत्र मराठों के नियंत्रण में आ गए। 15 जुलाई सन 1818 ई. को इस किले पर अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया।

मांगीतुंगी से लगभग तीन मील दूर पश्चिम की ओर डोंगरिया देव नामक एक गुफा है। भील, कोंकण आदि जातियों में इस गुफा का बड़ा महत्त्व है। यह गुफा भूमि तल से लगभग 1000 फुट की ऊँचाई पर है। इस गुफा के संबंध में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं।[9]

आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पहले मुल्हेर में करीब 300 से अधिक जैनियों के घर थे। पहले मांगीतुंगी आने वाले यात्रीगण मुल्हेर में ही ठहरते थे। वहाँ ठहरने के लिए दो बड़ी धर्मशालाएं थीं। यात्रीजन वहाँ विश्राम करके कच्चे रास्ते से पाँच-छह किलोमीटर पर्वतों के दुर्गम रास्तों से जय-जय की ध्वनि का सिंहनाद करते हुए भक्ति भाव से गिरिराज की तलहटी तक पहुँचते थे। फिर कोई भव्यात्मा जीव अपने पुण्य की कसौटी को कसते हुए पहाड़ पर वंदना के लिए जाकर अपने को धन्य समझता था अर्थात् पुण्यशाली जीव ही पहाड़ की वंदना करने में सफल हो पाते थे।

ईडर (गुजरात) निवासी भट्टारक सकलकीर्ति जी एवं उनके शिष्य ब्रह्मचारी जिनदास जी से प्रेरणा पाकर श्रावकों ने विक्रम संवत 1822 में यहाँ पर जिनबिंब स्थापित करके पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई थी।[10] आचार्य श्रेयांससागरजी

महाराज एवं श्रेयांसमति माताजी की मंगल प्रेरणा से यहाँ पर पर्वत की तलहटी में स्थित मूलनायक भगवान पार्श्वनाथ मंदिर के जीर्णोद्धार के साथ-साथ अनेकों निर्माणकार्य कराए गए। वर्तमान में गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से पहाड़ पर निर्मित 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव फरवरी सन् 2016 ई. में अत्यंत भव्यता के साथ संपन्न हुआ।[11]

यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को श्रीजी का विशाल रथयात्रा जुलूस निकलता है, जिसमें समीपस्थ गांवों से हजारों की संख्या में जैन एवं जैनेतर लोग उत्साह से सम्मिलित होते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्री दिगंबर जैन सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी का इतिहास, (2006), आर्यिका श्रेयांसमति, पृष्ठ 65
2. आचार्य रविषेण विरचित पद्मपुराण, (2000) डॉ. पन्नालाल जैन, पृष्ठ 215
3. वही, पृष्ठ 210
4. श्री दिगंबर जैन सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी का इतिहास, (2006), आर्यिका श्रेयांसमति, पृष्ठ 68
5. भारत के दिगंबर जैन तीर्थ, चतुर्थ भाग, (1978), बलभद्र जैन, पृष्ठ 208
6. आचार्य जिनसेन विरचित हरिवंशपुराण, (2009), डॉ. पन्नालाल जैन, पृष्ठ 778
7. वही, पृष्ठ 800
8. जैन इनसाइक्लोपीडिया
9. भारत के दिगंबर जैन तीर्थ, चतुर्थ भाग, (1978), बलभद्र जैन, पृष्ठ 210
10. वही, पृष्ठ 211
11. सर्वोच्च दिगंबर जैन प्रतिमा, महाजिनबिम्ब, (2018), डॉ. अनुपम जैन, पृष्ठ 233

❖❖

मंगलायरण

''सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कु-समय विसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं॥''

–आयरिय सिद्धसेण, सम्मइसुत्तं, 1/1/पृष्ठ 1

अर्थ– (सिद्धत्थाणं ठाणं) प्रमाण प्रसिद्ध अर्थों का स्थानभूत तथा (कुसमय विसासण) कु=पृथ्वी के (समस्त) एकान्तवाद से दूषित ऐसे मिथ्यामतों का समन्वय करके विशेषरूप से शासन करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् का जो कि (अणोवमसुहं भुवगयाणं) निखिलोपमारहित अव्याबाध सुख के भोक्ता एवं (भव जिणाणं) जिन्होंने संसार–सागर को जीत लिया, ऐसा (सासणं) अनेकान्तवादरूपी जैनशासन जो कि (सिद्धं) स्वतःसिद्ध है।

प्राकृत-विद्या : विद्वानों के अभिमत

प्राकृत-विद्या के मार्च 2021 अंक को देखा। बहुत सुंदर ढंग से इसका सम्पादन प्रोफेसर वीरसागरजी ने किया है। प्राकृत-जगत् की महत्वपूर्ण जानकारी इस शोध-पत्रिका द्वारा प्राप्त होती है। परमपूज्य आचार्य श्रीविद्यानंदजी द्वारा अभिसिंचित इस सर्वप्रथम प्राकृत-पत्रिका का नियमित बने रहना उनकी पावन स्मृति को जीवित रखना है। इसमें विद्वानों को प्राकृत में भी लिखते रहना चाहिए। हार्दिक शुभकामनाएं एवं बधाई है सभी सम्पादकों एवं प्रकाशन संस्था को।

–प्रोफेसर प्रेमसुमन जैन
अध्यक्ष, भारतीय प्राकृत स्कालर्स सोसायटी, उदयपुर

◆◆

प्राकृत-विद्या मार्च 2021 के अंक का संपादकीय 'आचार्यश्री की शब्द-साधना' पढ़ा, वास्तव में वो गन्ने जैसा लगा। आपकी भाषा में भी आचार्य श्री जैसी मिठास है। आप लिखते रहें, प्रवचन भी भेजें, आपकी वाणी में भी निःस्वार्थ भाव है। जैन समाज को ऐसी पत्रिकाओं की आवश्यकता है। आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।

–राजेन्द्र महावीर, सनावद (म.प्र.)

◆◆

प्राकृतविद्या (जनवरी-मार्च 2021) भिजवाने के लिए विशेष आभार। आवरण पर पूज्य आचार्य श्री विद्यानंदजी मुनिराज का चित्र नयनाभिराम है। पूज्य आचार्यश्री के लेखों और व्याख्यानों का मैं मुरीद हूँ। आपकी संपादन कला भी तारीफ-ए-काबिल है। 'अर्हत् वचन' के नवीन अंक में माननीय डॉ. अनुपम जी जैन साहब ने भी आपके संपादकीय कौशल की सराहना की है।**–डॉ. दिलीप धींग,** चैन्नई

◆◆

प्राकृतविद्या पढ़कर बहुत लाभ होता है। इसके सभी शोध लेख स्तरीय होते हैं, किन्तु इन दिनों इसकी केवल Soft कॉपी ही मिल रही है, यदि Hard कॉपी भी मुद्रित होकर मिल जाए तो हमारे विश्वविद्यालय के शोधछात्रों का बड़ा हित हो।

–डॉ. शुद्धात्म प्रकाश जैन, निदेशक–सोमैया सेंटर फॉर जैन स्टडीज,
विद्या विहार, मुम्बई

◆◆

पुस्तक-समीक्षा

समयसार का वैज्ञानिक विवेचन

—डॉ. दिलीप धींग*

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित शास्त्र 'समयसार' जैन दर्शन की गहनतम गहराई को दर्शाने वाला एक अनुपम ग्रन्थ है। आज के युग की आवश्यकता को देखते हुए डॉ. पारसमल अग्रवाल ने इस ग्रन्थ का व्याख्या सहित अंग्रेजी में अनुवाद किया है। यह अनुवाद एवं टीका Soul Science शीर्षक से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा लगभग 600 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। तीन भागों में प्रकाशित यह कृति कई दृष्टियों से अति विशिष्ट है। (a) भाषा सरल है। (b) आधुनिक विद्वानों एवं नवयुवकों के मन में जो प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं उनका समाधान लगभग 200 प्रश्नों द्वारा प्रश्नोत्तर शैली में किया गया है। पाठकों को कई स्थलों पर ऐसा लगेगा कि जो प्रश्न मन में पैदा हो रहा है, वह वहीं पर उठाया गया है व समाधान किया जा रहा है। (c) समयसार की आचार्य अमृतचंद्र एवं आचार्य जयसेन की संस्कृत टीकाओं के महत्वपूर्ण अंशों का भी स्थान-स्थान पर समावेश किया गया है। (d) लेखक ने यह भी ध्यान में रखा है कि यह पुस्तक ऐसी हो कि पाश्चात्य जगत के विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर, विद्यार्थी एवं पाश्चात्य धर्मावलम्बी भी जैन दर्शन को रुचिपूर्वक समझ सकें। इस हेतु जैन दर्शन के कई मुख्य सिद्धांतों को कई परिशिष्टों में वर्णित किया गया है। (परिशिष्टों के उदाहरणः 6 द्रव्य, 8 कर्म, 11 प्रतिमा, 5 पाप, 47 शक्तियाँ, अनेकांत आदि)। (e) लेखक ने प्रोफेसर एवं भौतिक वैज्ञानिक के रूप में भारत एवं अमरीका के विश्वविद्यालयों में 40 वर्ष सेवा के अनुभव के साथ साथ जैनधर्म के मूल ग्रंथों का विस्तृत अध्ययन भी किया है। विज्ञान और अध्यात्म विषयक कई पुस्तकें एवं उच्चकोटि के शोधालेख भी लेखक के देश-विदेश में प्रकाशित होते रहे हैं। लेखक के वैज्ञानिक होने का प्रभाव न केवल समयसार की विषयवस्तु को विज्ञान के उदाहरणों एवं तथ्यों से

*निदेशक : अंतरराष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र, 7, अय्या मुदली स्ट्रीट, साहूकारपेट, चेन्नई-600001 दूरभाष : 9952048107

समझाने में आया है, अपितु विषय के तार्किक प्रस्तुतिकरण पर भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

समयसार में पूजा-पद्धति, वेशभूषा, विधि-विधान, इतिहास आदि का वर्णन नगण्य है, बल्कि आत्म-विज्ञान के गूढ़तम पक्ष का चित्रण है। अतः न केवल जैन अपितु सभी धर्मावलम्बियों के लिये यह ग्रंथ रुचिकर हो सकता है। इस विशेषता का प्रभाव इस रूप में भी देखने को मिलता है कि दिगंबर आचार्यों/विद्वानों के अतिरिक्त श्वेतांबर आचार्यों/विद्वानों ने भी इसकी विशेषता को रेखांकित किया है। आचार्य महाप्रज्ञ की पुस्तक 'समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा', आचार्य शिवमुनि के आज्ञानुवर्ती प्रज्ञा महर्षि उदयमुनि की पुस्तक 'आचारांगादि आगमों में समयसार', डॉ. दिलीप धींग की पुस्तक 'समय और समयसार' (हिंदी) एवं कंपेंडियम ऑफ समयसार (अंग्रेजी) आदि से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि समयसार सभी के लिये आदरणीय एवं पठनीय है।

हमारा मानना है कि आज की ही नहीं, अपितु आगामी कई पीढ़ियों को जैन दर्शन की गहराई को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से सरलता से समझने हेतु SOUL SCIENCE शीर्षक की ये तीन पुस्तकें अति उपयोगी सिद्ध होंगी। डॉ. पारसमल अग्रवाल की ये पुस्तकें कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ (584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इंदौर 452001) के निदेशक डॉ. अनुपम जैन से व्हॉट्सएप नं. 9589883822 या ई-मेल : anupamjain3@rediffmail.com पर सम्पर्क द्वारा क्रय की जा सकती हैं।❖❖

श्रावक को सभी प्राणियों की रक्षा करनी चाहिये

''गो-बाल-ब्राह्मण-स्त्री पुण्यभागी यदीष्यते।
सर्वप्राणिगणत्रायी नितरां न तदा कथम्॥''

—(आचार्य अमितगति, श्रावकाचार, 11/3)

अर्थ— यदि गौ, ब्राह्मण, बालक और स्त्री की रक्षा करनेवाला पुण्यभागी है, तो जिसने सम्पूर्ण प्राणीसमूह की रक्षा का व्रत लिया है, वह उससे विशिष्ट क्यों नहीं? अर्थात् वह अवश्य विशिष्ट है। ◆◆

शत्रु और स्वजन

'शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा। कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयिष्यति॥'

—(महाकवि भास, प्रतिमा नाटक, 1/11)

अर्थ— बाहरी शत्रु केवल देह पर आघात करता है, किंतु स्वजन मर्मस्थान पर ही आघात करते हैं। न जाने इस विपत्ति में कौन स्वजन निमित्त हुए हैं? जिनकी याद मेरे लिये लज्जाकर होगी। ◆◆

समाचार दर्शन

कार्यशाला में देश-विदेश के लोगों ने सीखी ब्राह्मी लिपि

वाराणसी। प्राचीन ब्राह्मी लिपि के प्रशिक्षण हेतु तीन दिवसीय (18 जून से 20 जून 2021) ऑनलाइन कार्यशाला का आयोजन, विदुषी डॉ. मुन्नी जैन के सान्निध्य में किया गया। जैन फाउण्डेशन द्वारा आयोजित इस कार्यशाला में डॉ. मुन्नी जैन ने बहुत ही सहज और सरल रूप में शिलालेखों एवं ब्राह्मीलिपि का ऐतिहासिक महत्त्व बताते हुए कहा कि जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव ने अपनी दो पुत्रियों में से 'ब्राह्मी' को अक्षर विद्या एवं 'सुंदरी' को अंक विद्या सिखाई थी। यही लिपि ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई और इसी से लगभग सभी लिपियों का जन्म हुआ। सुंदरी को सिखाई गई अंक विद्या का विस्तार रूप आज गणित के रूप में है। आपने हाथीगुम्फा के शिलालेख के साथ कई शिलालेखों की जानकारी भी दी। सम्राट खारवेल के शिलालेख को भी डिजिटल माध्यम से दिखाया और उसकी दसवीं पंक्ति को भी पढ़कर सुनाया जिसमें अपने देश के नाम 'भारत' का सबसे प्राचीन लिखित रूप में उल्लेख मिलता है। उन्होंने कहा कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र 'भरत' के नाम से ही इस देश का नाम भारत पड़ा और हमें अपने देश के ऐतिहासिक नाम 'भारत' को ही पूरी तरह अपनाना चाहिए।

कार्यशाला के शुभारंभ में जैन फाउंडेशन, बैंगलुरू के संस्थापक श्री रमेश शाह ने कहा कि आज इस प्राचीन लिपि को समझने वाले दुर्लभ हैं, किन्तु इसे सीखना बहुत आवश्यक है। कार्यशाला का कुशल संचालन श्री नील शाह, मुम्बई ने करते हुए कहा कि हमें आश्चर्य है कि इस कार्यशाला में 500 से अधिक प्रतिभागियों ने देश-विदेश से उत्साहपूर्वक भाग लिया। ◆◆

आस्था बेटी के जन्मदिन पर 101 पौधों का रोपण

सनावद (म.प्र.) समाजसेवी, पत्रकार राजेंद्र जैन महावीर एवं अनुपमा जैन सनावद ने अपनी बेटी आस्था जैन के जन्मदिवस 21 जून के अवसर पर शासकीय हाई स्कूल बासवा परिसर में 101 पौधों का वृक्षारोपण कर जन्मदिन मनाया। पर्यावरण-संरक्षण का महत्त्वपूर्ण संदेश देने वाली यह परपरा सराहनीय ही नहीं,

अनुकरणीय भी है। आज के दौर में हम सबको बचाने में पेड़ों का योगदान उल्लेखनीय रहा है। कोरोना संकट के दौरान ऑक्सीजन की कमी से मौतों का तांडव हम सबने देखा है। हम सबको अपने जीवन में प्रतिवर्ष एक पेड़ अवश्य लगाना चाहिए। ◆◆

आधुनिक युग में भगवान् महावीर के दर्शन की प्रासंगिकता

लाड़नूं (राज.) दर्शन दिवस और महावीर जयंती के उपलक्ष्य में जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं द्वारा आयोजित तथा भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित 'आधुनिक युग में भगवान् महावीर के दर्शन की प्रासंगिकता' विषयक राष्ट्रीय वेबिनार का आयोजन 24 अप्रैल 2021 को किया गया। माननीय कुलपति प्रो. बच्छराज दूगड़ जी के संरक्षकत्व में आयोजित इस वेबिनार के मुख्य अतिथि भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली के अध्यक्ष प्रो. आर.सी. सिन्हा थे। वेबिनार का शुभारम्भ जैन विश्व भारती संस्थान की मुमुक्षु बहनों द्वारा 'महावीर स्तुति' से हुआ। तत्पश्चात् विभाग की विभागाध्यक्षा प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा ने अपने सभी वक्ताओं एवं अतिथियों का स्वागत किया। राष्ट्रीय संगोष्ठी के संयोजक, डॉ. अरिहन्त कुमार जैन ने सभी वक्ताओं का परिचय दिया।

वक्ता के रूप में प्रो. अनेकांत कुमार जैन, प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी, प्रो. धर्मचंद जैन और प्रो. महावीर राज गेलरा ने अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये। वेबिनार के मुख्य अतिथि भारतीय दर्शन अनुसंधान परिषद (नई दिल्ली) के माननीय अध्यक्ष प्रो. रमेश चन्द्र सिन्हा जी ने भगवान महावीर के सिद्धांतों को सार्वकालिक बताया। अंत में डॉ. समणी अमल प्रज्ञा जी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। ◆◆

जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग द्वारा आयोजित व्याख्यान

उदयपुर (राज.)। राजस्थान स्थापना दिवस पर जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग द्वारा दिनांक 30 मार्च, 2021 को 'राजस्थान का जैन साहित्य' विषय पर एक व्याख्यान आयोजित किया गया। मुख्य वक्ता डॉ. देव कोठारी निदेशक, अरिहन्त नर्सिंग कालेज, उदयपुर थे। प्रो. प्रेम सुमन उदयपुर, प्रो. सुषमा सिंघवी जयपुर, डॉ. कमल कुमार पुणे, डॉ. सुरेन्द्र भारती बुरहानपुर, ब्र.डॉ. अनिल प्राचार्य डॉ. रजनीश दिल्ली, श्री सुभाष सिंघई उदयपुर आदि अतिथिगण, अध्यापक और शोधकर्ताओं ने कार्यक्रम में जुड़कर अपनी सहभागिता सुनिश्चित की। मुख्य वक्ता ने व्याख्यान में राजस्थान शब्द की उत्पत्ति से लगाकर राजस्थान में प्राकृत भाषा के विभिन्न प्रकार के साहित्य की जानकारी दी। विभाग के प्राध्यापक डॉ सुमत कुमार जैन ने सभी का स्वागत किया, विभाग के अध्यक्ष प्रो. जिनेन्द्र कुमार जैन ने विषय-प्रवर्तन किया और विभाग के प्राध्यापक डॉ. ज्योति बाबू जैन ने सभी के प्रति आभार व्यक्त किया। ◆◆

अ.भा. जैन पत्र संपादक संघ द्वारा श्रुतपंचमी पर वेबीनार आयोजित

जयपुर। श्रुतपंचमी पर्व के उपलक्ष्य में अखिल भारतीय जैन पत्र संपादक संघ एवं अथाई आशा इंटरनेशनल के तत्त्वावधान में ऑनलाइन वेबीनार आयोजित किया गया जिसमें प्रो. जयकुमार उपाध्ये, प्रो. वीर सागर जैन, डॉ. नीलम जैन, डॉ. अनेकांत जैन, पं. ऋषभ कुमार जैन– उदयपुर डॉ. ऋषभचंद फौजदार, डॉ बी.एल. सेठी, डॉ. नरेन्द्र भारती, डॉ. कल्पना जैन, डॉ. ज्योति जैन, डॉ. संगीता मेहता, उन्नीत झांझरी आदि वक्ताओं ने अपने विचार प्रस्तुत किए। इस उपलक्ष में मूडबिद्री के भट्टारक स्वस्ति श्री चारकीर्ति जी के द्वारा ताडपत्रों पर हस्तलिखित षट्खंडागम आदि दुर्लभ ग्रंथों के दर्शन कराए। परमपूज्य आचार्य श्रीश्रुतसागरजी मुनिराज द्वारा आशीर्वचन भी प्रदान किया गया। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि श्री अनिल पारसदास जैन नेपाल थे। श्री प्रदीप जैन पी.एन.सी. आगरा ने अध्यक्षता की। सारस्वत अतिथि श्री अनूपचंद जैन एडवोकेट फ़िरोज़ाबाद थे। दीप प्रज्वलन संगठन के अध्यक्ष श्री शैलेन्द्र जैन एडवोकेट अलीगढ़ द्वारा किया गया। मंगलाचरण डॉ. इंदु जैन–दिल्ली ने किया। स्वागत भाषण संगठन के कार्याध्यक्ष डॉ सुरेन्द्र जैन भारती ने प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का संचालन डॉ. संगीता विनायका इन्दौर ने किया। आभार प्रदर्शन संघ के महामंत्री डॉ. अखिल बंसल द्वारा किया गया। ◆◆

परिषद भवन-विद्यानंद निलय का लोकार्पण एवं आचार्य श्रीविद्यानंदजी मुनिराज की चरण छतरी प्रतिष्ठा समारोह हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न

नई दिल्ली। श्वेतपिच्छाचार्य श्रीविद्यानंदजी मुनिराज की स्मृति में परिषद द्वारा निर्मित ''आचार्य विद्यानंद निलय-परिषद भवन'' का लोकार्पण व गुरुदेव की चरण छतरी प्रतिष्ठापन समारोह परमपूज्य निर्यापक पट्टाचार्य आचार्य श्रीश्रुतसागरजी मुनिराज व मुनिश्री अनुमानसागरजी महाराज ससंघ के पावन सान्निध्य में रविवार 27 जून, 2021 को परिषद भवन में महती धर्मप्रभावना के साथ हर्षोल्लास वातावरण में सम्पन्न हुआ। इस पावन अवसर पर परमपूज्य निर्यापक पट्टाचार्य आचार्य श्रीश्रुतसागरजी मुनिराज ने अपने मंगल आशीर्वाद में कहा कि हमें संगठित रहना है, मतभेद हो सकते हैं, मनभेद नहीं होना चाहिए। मुनि अनुमानसागर जी महाराज ने कहा कि आचार्यश्री के जहाँ भी चरण पड़ते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है।

परिषद के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. जीवनलाल जैन, सागर (म.प्र.) ने अपने उद्बोधन में बताया कि आचार्यश्री को जैनदर्शनों का ही नहीं अपितु समस्त दर्शनों का विस्तार से ज्ञान था, वे जैनधर्म संस्कृति के इनसाइकिलोपीडिया थे, उनका आशीर्वाद परिषद को सदैव मिलता रहा है। कार्याध्यक्ष चक्रेश जैन ने कहा कि आज पूज्य आचार्यश्री की छाया दिख रही है। राष्ट्रीय महामंत्री अनिल पारसदास जैन (नेपाल) ने बताया कि यह सुखद संयोग है वर्ष 2022 में पूज्य गुरुदेव की जन्म जयंती

एवं परिषद की स्थापना का 'शताब्दी वर्ष' रहा है, परिषद इसे शताब्दी वर्ष के रूप में आयोजित करेगा। परिषद भवन विद्यानन्द निलय की सभी मंजिलें वातानुकूलित व सर्वसुविधायुक्त हैं। जिसमें दिल्ली जैसे महानगर में दूरदराज से आए हुए प्रतिनिधियों तथा उच्च परीक्षाओं के लिए आगंतुक जैन छात्रों को उचित सहयोग पर उपलब्ध है, विशेषकर निर्धन छात्रों को 2-3 दिन के लिए ठहरने हेतु निःशुल्क व्यवस्था की गई है।

इस अवसर पर ध्वजारोहण श्री नीरज जैन कालकाजी ने, मंगलाचरण डॉ. वीरसागर जैन भगवान महावीर एवं आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज का चित्र अनावरण दिल्ली प्रदेश के कोषाध्यक्ष जिनेन्द्र जैन दरीबाकलां एवं श्री एम. एल. जैन अलकनंदा ने दीप प्रज्जवलन राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. जीवनलाल जैन, कार्याध्यक्ष श्री चक्रेश जैन, इंजि. सुशील जैन, आर्किटेक्ट मनोज जैन एवं सुभाष बड़जात्या ने किया।

शास्त्र भेंट की शृंखला में परमपूज्य आचार्य श्रीश्रुतसागरजी मुनिराज को श्री श्रीमंदर जैन कालकाजी, आचार्य अनुमानसागर जी महाराज को दिल्ली प्रदेश के महामंत्री श्री सुनील जैन एवं क्षुल्लक जी महाराज को स्व. सुखबीर सिंह जैन जौहरी के सुपुत्र श्री कमल जैन, वैभव जैन ग्रेटर कैलाश तथा पाद-प्रक्षालन : अशोक रेखा गोयल जैन के द्वारा किया गया।

परिषद के राष्ट्रीय महामंत्री अनिल पारसदास जैन ने मंत्रोच्चारण के साथ आचार्यश्री की भव्य चरण छतरी प्रतिष्ठापन तथा जल शुद्धि, कलशों के द्वारा चरणों के नीचे पवित्र भस्म व अन्य स्वस्तिक एवं सोना चांदी तथा रुद्राक्ष का सामान रखे गये। साथ में परिषद की राष्ट्रीय उपाध्यक्षा डॉ. मंजू जैन, नागपुर, तथा महिला परिषद–दक्षिण दिल्ली संभाग की सचिव श्रीमती रेनू जैन ने सहयोग किया। इस अवसर पर देश के विभिन्न प्रांतों से पधारे परिषद के वरिष्ठ पदाधिकारियों सहित दिल्ली के गणमान्य महानुभाव उपस्थित रहे। विधिविधान क्रियाएँ पं. जितेन्द्र जैन 'जीतू भैया' के साथ प्रतिष्ठाचार्य पं. सचिन जैन शास्त्री (दिल्ली) के द्वारा सम्पन्न हुईं। ◆◆

जैन दर्शन अपनाकर दुनिया को सुंदर बनाया जा सकता है : संधु

मुंबई (महा.)। ''जैन दर्शन की विभिन्न अवधारणाओं को अपनाकर दुनिया को रहने के लिए सबसे सुंदर जगह बनाया जा सकता है। जैन अध्ययन व जैन दर्शन भविष्य में पढ़ाई के विषय बनने वाले हैं।'' इसीलिए आज के युवाओं को इसको लेकर उत्साहित व रोमांचित होना चाहिए। यह बात अमेरिका में भारत के राजदूत तरनजीत सिंह संधु ने कही। वह आधुनिक विज्ञान में चेतना और जैन दर्शन विषय पर आयोजित चार दिवसीय अंतरराष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस के उद्घाटन सत्र में बोल रहे थे। इस वर्चुअल आयोजन में 27 देशों से 10 हजार प्रतिनिधि हुए शामिल हुए।

पद्मश्री डॉ. आर. ए. माशेलकर ने कॉन्फ्रेंस की रूपरेखा रखी। उन्होंने साफ किया कि कैसे भारतीय दर्शन खासतौर से जैन दर्शन ज्ञान के लिहाज से सबसे समृद्ध है। उन्होंने कहा कि इस ज्ञान का हर जगह प्रचार होना चाहिए। डॉ. गुलाब कोठारी कॉन्फ्रेंस के समापन समारोह के मुख्य अतिथि थे। 19 से 22 मार्च तक चली इस ऑनलाइन (वर्चुअल) अंतराष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस में 27 देशों से 10 हजार प्रतिभागियों ने हिस्सा लिया। इसका आयोजन फ्लोरिडा इंटरनेशनल यूनिवर्सिटी, स्टीवन जे. ग्रीन स्कूल ऑफ इंटरनेशनल ऐंड पब्लिक अफेयर और जैन एजुकेशनल ऐंड रिसर्च फाउंडेशन, स्प्रिचुअल टेक्नॉलजी रिसर्च फाउंडेशन (मुंबई) व वर्ल्ड जैन कॉन्फ्रेंस ने किया। इस दौरान जैन समुदाय के योगदान को पहचान देने के लिए मियामी के मेयर ने 19 मार्च 2021 को जैन अध्यन प्रोग्राम दिवस घोषित किया। इस कॉन्फ्रेंस में जैन समुदाय के चारों संप्रदाय के लोग एक मंच पर आए। मुनि महेंद्रकुमार ने कहा कि जैन अवधारणाओं को लेकर वैज्ञानिक शोध व प्रयोग किया जाना चाहिए। आचार्य विजनंदीघोषसूरी ने जीवों में मौजूद चेतना के विषय में वैज्ञानिक तथ्य साझा किए। जैन समाज के प्रखर संत नम्रमुनि ने विज्ञान व अध्यात्म के पहलू पर प्रकाश डाला। उन्होंने कॉन्फ्रेंस को ज्ञान का त्योहार बताया। आचार्य कंकानंद ने भी कॉन्फ्रेंस में अपने विचार रखे। जाने जाने जीव वैज्ञानिक डॉ रुपर्ट शेल्डरके व अंतरिक्ष वैज्ञानिक प्रोफेसर नरेंद्र भंडारी सहित कई विद्वानों ने कॉन्फ्रेंस में अपने पेपर प्रेजेंट किए◆◆

वैराग्य-समाचार

हम सभी जानते हैं कि इस बार कोरोना महामारी के कारण अनेकानेक लोग हमें छोड़कर चले गये हैं जिनमें से समाज के निम्नलिखित विशिष्ट लोगों के दिवंगत होने के समाचार भी प्राप्त हुये हैं–

1. श्रीमती इन्दु जैन धर्मपत्नी स्व. साहू अशोक कुमार जैन।
2. श्री निर्मल कुमार जैन सेठी, अध्यक्ष–भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा।
3. श्री सुरेश चन्द जैन (एमरिनो), पूर्व अध्यक्ष–कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली।
4. श्री रूपेश जैन, ट्रस्टी–कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली।
5. श्री आनंद बंसल सुपुत्र डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई, मध्यप्रदेश।
6. श्री सुधीर जैन, अहिंसा इंटरनेशनल, ऋषभ विहार, दिल्ली।
7. श्री क्षितिज जैन सुपुत्र श्री अक्षय जैन सदस्य कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली।
8. डॉ. लाजपतराय जैन, जंगपुरा, नई दिल्ली।
9. श्री नरेन्द्र जैन, ग्रेसवे एडवर्टाईजर्स दिल्ली।

'प्राकृतविद्या-परिवार' सभी के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता है। ◆◆

परमपूज्य श्वेतपिच्छाचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज की कतिपय प्रमुख कृतियाँ

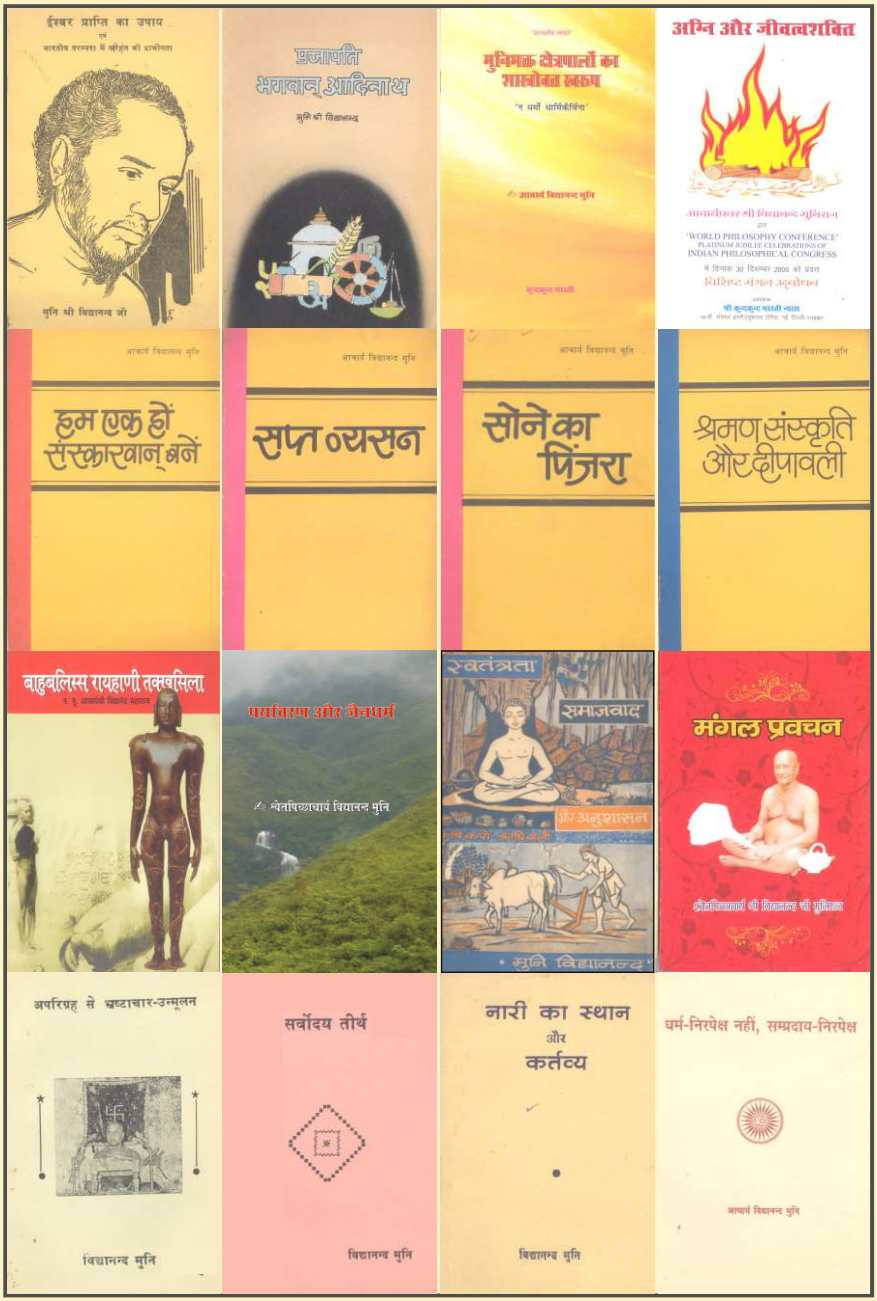

भारत सरकार पंजीयन संख्या DELHIN/2007/22991

परिषद भवन 'विद्यानंद निलय' के लोकार्पण एवं परमपूज्य श्वेतपिच्छाचार्य श्रीविद्यानंदजी मुनिराज की चरण छतरी के प्रतिष्ठा समारोह की झलकियाँ